का

संक्षिप्त इतिहास

कामताप्रसाद जैन

भारतीय ज्ञानपीठ के प्रकाशन

प्राकृत

१ महाबन्ध (जैनसिद्धान्त ग्रन्थ) १२)

(प्रेस में)

२ करलक्खण (सामुद्रिक शास्त्र)

संस्कृत

१ न्यायविनिश्चय विवरण—२ भाग
२ मदनपराजय
३ कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ-सूची
४ तत्त्वार्थ श्रुतसागरी
५ नाममाला सभाष्य

ज्ञानपीठ-मूर्तिदेवी जैनग्रन्थमाला—हिन्दीग्रन्थाङ्क २
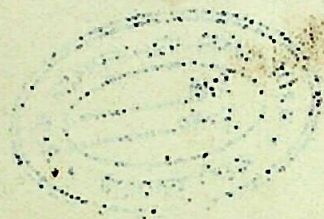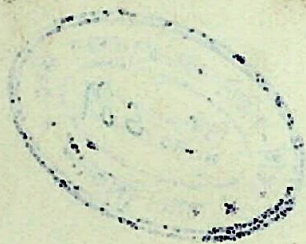
हिन्दी जैन-साहित्य
का
संक्षिप्त इतिहास

कामताप्रसाद जैन, D. L., M. R. A. S.

सम्पादक, 'वीर' और 'जैनसिद्धान्त-भास्कर'

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी की सेवा में

जिन्होंने साहित्य की साधना और साहित्यकारों के
उत्कर्ष-साधन में सम्पूर्ण जीवन लगाकर
हिन्दी संसार को उपकृत किया है
सादर समर्पित।

—कामता प्रसाद जैन

विषय-सूची

निवेदन

जैन, बौद्ध, वैदिक—भारतीय संस्कृति की इन प्रमुख धाराओं का अवगाहन किये बिना अपनी आर्यपरम्परा का ऐतिहासिक विकासक्रम हम जान नहीं सकते। सभ्यता की इन्हीं तीन सरिताओं की त्रिवेणी का सङ्गम हमारा वास्तविक तीर्थराज होगा। और ज्ञानपीठ के साधकों का अनवरत यही प्रयत्न रहेगा कि हमारी मुक्ति का महामन्दिर त्रिवेणी के उसी सङ्गम पर बने; उसी सङ्गम पर महामानव की प्राण प्रतिष्ठा है।

लुप्त ग्रन्थों का उद्धार, अलभ्य और आवश्यक ग्रन्थों का सुलभीकरण, प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, कन्नड और तामिल के जैनवाङ्मयका मूल और यथासम्भव अनुवादरूप में प्रकाशन, ज्ञानपीठ ऐसे प्रयत्नों में लगा हुआ है और बराबर लगा रहेगा। इन कार्यों के अतिरिक्त सर्व साधारण के लाभ के लिये ज्ञानपीठ ने लोकोदय-ग्रन्थमाला की योजना की है। इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत हिन्दी में सरल, सुलभ, सुरुचिपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित की जाएँगी। जीवन के स्तर को ऊँचा उठानेवाली कृति के प्रत्येक रचयिता को ज्ञानपीठ प्रोत्साहित करेगा, वह केवल नामगत प्रसिद्धि के पीछे नहीं दौड़ेगा। काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, इतिहास पुस्तक चाहे किसी भी परिधि की हो परन्तु हो लोकोदय-कारिणी।

प्रस्तुत पुस्तक, हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, हिन्दी काव्य परम्परा के सम्बन्ध में हमारी जानकारी को कई गुना बढ़ादेने वाली है। आज की हमारी राष्ट्रभाषा का आरम्भिक रूप कैसा था, वह किन

साँचों में ढल कर आज इस रूप में विराजमान है—यह जानना प्रत्येक हिन्दी पाठक के लिए आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के अब तक के इतिहासकार प्रायः दशवीं शताब्दी से पूर्व नहीं गये। उन्हें हिन्दी के आदि कवि स्वयम्भू का बिल्कुल पता नहीं, वह सरहपा तक को नहीं पहचानते। श्रद्धेय पं० नाथूराम प्रेमी और महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इन दोनों की तरफ हिन्दी संसार का ध्यान आकृष्ट किया। इस पुस्तक में आप पाएँगे कि कैसे अपभ्रंश के माध्यम द्वारा जैन कवियों ने आज की इस हिन्दी को अंकुरित किया और उस अंकुर को सींच सींचकर कैसे उन्होंने बालवृक्ष बना दिया।

विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक को साहित्यसेवा की पुनीत भावना से लिखा है, और इसी भावना से प्रेरित होकर इसे ज्ञानपीठ को प्रकाशन के लिए दिया है। ज्ञानपीठ उनका आभार मानता है।

—सम्पादक

प्राक्कथन

हिन्दी भाषा उठते हुए राष्ट्र की महती शक्ति है। वह लगभग बीस करोड़ व्यक्तियों के साहित्य का माध्यम है। उसका भविष्य उज्ज्वल है; उसके भूत काल का उत्तराधिकार भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भाषा की दृष्टि से प्राचीनतम आर्य-वंश की भाषाओं की साक्षात् क्रमिक परम्परा हिन्दी भाषा को प्राप्त हुई है। वैदिक भाषा के अनेक शब्द और अनेक धातु इस समय की हिन्दी भाषा में और उससे सम्बन्धित दूर-दूर तक फैली हुई जनपदों की बोलियों में सुरक्षित हैं। संहिता-ब्राह्मण-सूत्र-काल की संस्कृत भाषा का उत्तराधिकार शताब्दियों के भीतर से विकसित होता हुआ हिन्दी को प्राप्त हुआ है। बुद्ध के चिरजीवी उपदेशों की धात्री पाली भाषा, भगवान् महावीर के प्रवचनों को सुरक्षित रखनेवाली अर्ध-मागधी भाषा, एवं कालान्तर में विकसित शौरसेनी, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा की विकास-धाराएँ अपने समृद्ध साहित्यिक कोष को लिये हुए वर्तमान हिन्दी भाषा और साहित्य के महासमुद्र में समवेत हुई हैं। हिन्दी के परसहस्र शब्दों के आदिमूल की खोज हिन्दी भाषाओं के प्राचीन साहित्य में मिल सकती है। हिन्दी के साहित्यिक अलंकार, शैली और अभिप्रायों का विकास भी उपरोक्त भाषाओं के प्राचीन साहित्य द्वारा ही जाना जा सकता है। भाषा के शब्द-भण्डार और साहित्य की समृद्धि दोनों दृष्टियों से हिन्दी भाषा का क्षेत्र दिन-प्रतिदिन विस्तृत रूप में हमारे सम्मुख प्रकट हो रहा है।

उसी विस्तार का एक उदाहरण श्री कामताप्रसाद जी द्वारा प्रणीत इस पुस्तक में मिलता है। हिन्दी भाषा का जो प्राचीन साहित्यिक विस्तार है उसके विषय में बहुत सी नई सामग्री का परिचय हमें इस पुस्तक के द्वारा प्राप्त होगा। अपभ्रंश-काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दि तक जैन-धर्मानुयायी विद्वानों ने हिन्दी में जिस साहित्य की रचना की, लेखक ने

कालक्रमानुसार उसका संक्षिप्त परिचय इस पुस्तक में दिया है। यद्यपि भिन्न-भिन्न कवियों और काव्यों का मूल्य आँकने में उनके जो विचार हैं उनसे पाठकों का मत-भेद हो सकता है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि दो दृष्टियों से यह नयी सामग्री बहुत ही उपयोगी हो सकती है, एक-तो हिन्दी के शब्द-भण्डार की व्युत्पत्तियों की छान-बीन करने के लिए और दूसरे साहित्यिक अभिप्रायों (मोटिफ) और वर्णनों का इतिहास जानने के लिए। अब वह समय आ गया है जब ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रत्येक शब्द के विकास को ढूँढना आवश्यक है। शब्द और अर्थ दोनों का विकास ऐतिहासिक पद्धति पर बने हुए हिन्दी-कोष के द्वारा ही हमें ज्ञात हो सकता है। किस शब्द ने हिन्दी में किस समय प्रवेश किया और कैसे कैसे उसका रूप बदलता गया एवं अर्थ की दृष्टि से उसमें कितना विस्तार, संकोच या परिवर्तन होता रहा, इन बातों पर प्रकाश डालने के लिए हिन्दी के ऐतिहासिक शब्दकोष की बड़ी आवश्यकता है। जिस प्रकार अंग्रेजी भाषा में डॉ० मरे द्वारा सम्पादित 'ऑक्सफोर्ड महाकोष' में समस्त अंग्रेजी साहित्य से हर-एक शब्द की क्रमिक व्युत्पत्ति और अर्थ-विकास का अन्वेषण किया गया है, इसी प्रकार प्रत्येक हिन्दी शब्द की निज-वार्ता या अन्तरङ्ग ऐतिहासिक परिचय के लिए हमें हिन्दी साहित्य के अंग-प्रत्यंग एवं समस्त प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रन्थों की छान-बीन करनी होगी। इस कार्य के लिए जैन साहित्य की बहुत बड़ी उपादेयता है। यह साहित्य अभी तक बहुत कुछ अप्रकाशित है। इसके प्रकाशन के लिए सबसे पहले प्रयत्न होना चाहिए। धार्मिक भावुकता से बचकर ठोस साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से इन ग्रन्थों का सम्पादन आवश्यक है।

अब यह बात प्रायः सर्वमान्य है कि हिन्दी भाषा को अपने वर्तमान स्वरूप में आने से पहले अपभ्रंश-युग को पार करना पड़ा। वस्तुतः शब्द-शास्त्र और साहित्यिक शैली दोनों का बहुत बड़ा वरदान अपभ्रंश भाषा से हिन्दी को प्राप्त हुआ है। तुकान्त छन्द और कविता की पद्धति अपभ्रंश की ही देन है। हमारी सम्मति में अपभ्रंश काव्य को हिन्दी से पृथक्

गिनना ठीक नहीं। अपभ्रंशकाल (८ वीं-११ वीं सदी) हिन्दी भाषा का आद्य काल है। हिन्दी की काव्यधारा का मूलविकास सोलह आने अपभ्रंश काव्यधारा में अन्तर्निहित है, अत एव हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक क्षेत्र में अपभ्रंश भाषा को सम्मिलित किये बिना हिन्दी का विकास समझ में आना असम्भव है। भाषा-भाव-शैली तीनों दृष्टियों से अपभ्रंश का साहित्य हिन्दी भाषा का अभिन्न अंग समझा जाना चाहिए। अपभ्रंश (८-११ वीं सदी), देशी भाषा (१२-१७ वीं सदी) और हिन्दी (१८ सदी से आज तक) ये ही हिन्दी के आदि, मध्य और अन्त तीन चरण हैं। लगभग सातवीं शताब्दि से अपभ्रंश भाषा में साहित्य निर्माण का कार्य प्रारम्भ हो गया था जैसा कि दण्डी के काव्यादर्श के एक उल्लेख से ज्ञात होता है—

"आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः। १।३६" अर्थात् अपभ्रंश वह भाषा है जो आभीरादिकों की बोली है और जिसमें काव्य रचना भी होती है। वलभी के राजा गुहसेन (५५६-५६६) को एक ताम्रपत्र में उन्हें संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश तीनों भाषाओं में काव्य रचना करने में निपुण कहा गया है। "संस्कृतप्राकृतअपभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्ध-रचनानिपुणतरान्तःकरणः" (इंडियन ऐंटीक्वेरी १०।२८४) किन्तु उतनी प्राचीन अपभ्रंश कविता के उदाहरण अज्ञात है। लगभग आठवीं शताब्दि में स्वयम्भू नामक महाकवि (७६० ई०) ने हरिवंश पुराण और रामायण की अपभ्रंश भाषा में रचना की जो हमें उपलब्ध हैं। उसके अनन्तर तो अपभ्रंश के अनेक काव्य मिलते हैं और पुरानी हिन्दी के उदय के बाद भी अपभ्रंश भाषा काव्य रचने की परिपाटी सत्रहवीं शताब्दि तक जारी रही।

पुरानी हिन्दी का परिचय सर्वप्रथम हमें रासा साहित्य के द्वारा प्राप्त होता है। रासा की परिपाटी भी सातवीं शताब्दि के लगभग अस्तित्व में आ चुकी थी। वाग्भट्ट ने रासा साहित्य का उल्लेख किया है। हिन्दी में पृथ्वीराज रासो प्रसिद्ध है, यद्यपि उसका जो वर्तमान स्वरूप है वह बारहवीं

शताब्दि की भाषा के बाद का है। जैन साहित्य में छोटे बड़े सैकड़ों रासा ग्रन्थ सुरक्षित हैं और भाषा की दृष्टि से वे साहित्य के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

जैसा ऊपर निर्देश किया गया है जैन साहित्य में हिन्दी काव्य-शैली के अंकुर निहित हैं। दसवीं शताब्दि में पुष्पदन्त कविके द्वारा यशोधर-चरित्र और नागकुमारचरित्र दो चरित-काव्यों का अपभ्रंश भाषा में निर्माण हुआ। इन चरित-काव्यों की परम्परा में ही आगे चल कर गोस्वामी जी ने राम-चरितमानस का निर्माण किया। कहीं-कहीं तो साम्य विलक्षण है। रामायण के आरम्भ में सज्जनों और दुर्जनों के स्वभाव का जो वर्णन है, वह प्राचीन कविसमय की एक मान्य परिपाटी के अनुसार ही है। पुष्पदन्त और धनपाल ने भी अपने काव्यों के आरम्भ में दुष्ट और सज्जन स्वभावों का वर्णन किया है जो बहुत कुछ गोस्वामी जी के वर्णन से मिलता है। तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रभाव कई दिशाओं में पूरी तरह जाना जा सकता है।

पुस्तक में जैन गद्य साहित्य की ओर भी उचित ध्यान आकर्षित किया है। इनमें श्री रामरच्छ कृत 'प्रद्युम्नचरित' और 'मूतामेणसी की ख्यात' उल्लेखनीय हैं। दूसरे ग्रन्थ का परिचय तो हिन्दी जगत् को पहिले भी मिल चुका है, किन्तु प्रद्युम्नचरित जिसकी एक प्राचीन प्रति (सं० १६९८ की लिखी हुई) जैनमन्दिर दिल्ली के शास्त्रभण्डार में सुरक्षित हैं शीघ्र प्रकाश में आना चाहिए।

आशा है, हिन्दी साहित्य के इतिहास की इस नवीन सामग्री की ओर हिन्दी जगत् उचित ध्यान देगा। विशेषकर साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वान् यदि आलोचना-प्रधान दृष्टि से इस पर विचार करेंगे तो हिन्दी का बहुत उपकार होगा।

नई देहली,
२०-११-४६

—वासुदेवशरण अग्रवाल

दो-शब्द

श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी ने ही पहले-पहले हिन्दी जैन साहित्य को टटोला था और अपनी शोध के परिणाम-रूप उन्होंने सन् १९२७ ई० में 'हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक प्रकाशित की थी। हिन्दी के विद्वज्जगत् में उसका बड़ा आदर हुआ था। किन्तु प्रथम संस्करण समाप्त होने पर वह दुर्लभ हो गई। विद्वजनों को वैसी पुस्तक का अभाव खटकने लगा। सन् १९४० में जब हम श्री गोम्मटेश्वर के महामस्तकाभिषेकोत्सव के प्रसंग में श्रवणबेल्गोल गये हुए थे और लौटते हुए बम्बई आये थे तो वहाँ हमें प्रोफेसर आ० ने० उपाध्ये जी मिले। उन्होंने हमें हिन्दी जैन साहित्य के उद्धार के लिए प्रेरणा की। उनके आग्रह को हम टाल न सके और उनसे इस दिशा में प्रगति करने के लिए वचनबद्ध हो गये। मंथर गति से हिन्दी साहित्य के शोधन और अन्वेषण का कार्य यद्यपि उक्त घटना के बाद से ही हमने प्रारम्भ कर दिया था, परन्तु उसको तीव्र प्रेरणा श्री भारतीय विद्याभवन बम्बई द्वारा प्रचालित 'सांस्कृतिक-निबन्ध-प्रतियोगिता' की सूचना से मिली। सन् १९४४ की गरमी के दिन थे। तब किसी अंग्रेजी पत्रिका में हमने उक्त सूचना पढ़ी थी। निबन्ध लिखकर भेजने का समय यद्यपि अत्यल्प, कुल तीन चार महीने ही शेष था, परन्तु हमने निश्चय कर लिया कि इस प्रतियोगिता के लिए हिन्दी जैन साहित्य पर ही लिखेंगे।

प्रेमी जी प्रभृति अपने मित्रों को हमने 'हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास' लिखने की अपनी भावना व्यक्त की। प्रायः सबने यही लिखा कि यद्यपि यह कार्य स्तुत्य है परन्तु उसकी पूर्ति के लिए हमें जयपुर, नागोर, दिल्ली आदि के शास्त्र-भण्डारों का निरीक्षण स्वयं वहाँ जाकर करना चाहिये। यह सत्परामर्श था, परन्तु इसके अनुरूप वर्तना हमारे लिए एक टेढ़ी समस्या थी। घर पर अकेले होने के कारण दीर्घ काल के

लिए बाहर जाना हमारे लिए अशक्य था। यों तो हमारा प्रायः सारा समय साहित्यान्वेषण एवं लेखन में ही बीतता आ रहा है, परन्तु घर से बाहर जा कर अपने समय का सदुपयोग करना, इच्छा होते हुए भी हम कभी न कर सके यह बाधा थी जो हमें उत्साहहीन कर रही थी; परन्तु निश्चय जो कर चुके थे।

हमने जयपुर, दिल्ली, आगरा, इन्दौर आदि स्थानों के अपने मित्रों को लिखा, क्योंकि हमने यह तय किया कि उक्त स्थानों के शास्त्रभंडारों की सूचियों से देखकर शास्त्रों के आदि-अंत के अंश मँगा कर घर पर ही देखेंगे। इस कार्य में जैन सिद्धान्तभवन आरा की ग्रंथसूची एवं 'अनेकान्त' में प्रकाशित हुई सूचियों से हमें बहुत सहायता मिली। हमारे मित्रों में से जिनको हमने लिखा था, केवल श्री पन्नालाल जी अग्रवाल, दिल्ली, श्रीयुत पं० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, आरा और श्रीयुत पं० नाथूलाल जी शास्त्री, इन्दौर ने हमारे कार्य में सहयोग देने का आश्वासन दिया। उनके सहयोग से ही हम इस रचना को रचने में सफल हुए। इस लिए एक तरह-से इसकी रचना का सारा श्रेय उन्हीं को प्राप्त है और इसके लिए हम उनका जितना आभार स्वीकार करें थोड़ा ही है। भाई पन्ना-लालजीने दिल्ली के कई शास्त्रभंडारों से ले-लेकर वे सभी ग्रन्थ जल्दी-जल्दी भेजने की कृपा की जिनके लिए हमने उनको लिखा। कई छोटी-मोटी रचनाओं की प्रतिलिपि करके भी उन्होंने भेजी। उनकी सहयोग-भावना और उत्साह निस्सन्देह सराहनीय है। आरा के जैन सिद्धान्तभवन से ग्रन्थ भेजने का अनुग्रह श्री नेमिचंद्रजी ने किया। पं० नाथूलालजी ने इन्दौर के शास्त्रभण्डार से कतिपय उद्धरण लेकर भेजे, अलबत्ता जयपुर के मित्रों से हमें सहयोग नहीं मिला और वहाँ के भंडारों की निधि हमारे लिये अछूती रही! इस तरह हम अपने मनोरथ को सफल बनाने में कथञ्चित् कृतकृत्य हुए। तीन-चार महीने के अल्प समय में हमने सब ही ग्रन्थों को पढ़ा और इतिहास लिखा भी। इतिहास की पांडुलिपि लिखने में स्थानीय उत्साही युवक श्री मनमोहनलाल जी ने हमारा हाथ बँटाया।

था—हम उनको इस प्रसंग में भुला नहीं सकते। वह भी धन्यवाद के पात्र हैं।

प्राचीन रचनाओं के उद्धरण उपस्थित करने में बड़ी कठिनाई यह रही कि मूलग्रन्थ की एक ही प्रति प्रायः हमारे सम्मुख थी और उस एक प्रति के आधार से पाठ का संशोधन करना अति-साहस का कार्य था। इस अवस्था में हमने मूल पाठ को न बदलना ही श्रेष्ठ समझा—मूल प्रति में जो पाठ जैसा था, उसको वैसा ही उद्धृत किया है। विद्वान् पाठक इस लिए उद्धरणों में कहीं-कहीं त्रुटियाँ पायेंगे; परन्तु खेद है कि उनको सुधारने के लिए हमारे पास कोई चारा नहीं था।

प्रस्तुत पुस्तक के विषय में हम कुछ नहीं कहना चाहते। वह पाठकों के हाथ में है और वह उसके गुण-दोष को स्वयं आँकेंगे। फिर भी पुस्तक में आयोजित हिन्दी जैन साहित्य के कालविभाग के औचित्य का समर्थन किये बिना हम नहीं रह सकते। संभव है कि कतिपय विद्वान् हमारे इस कालविभाग से सहमत न हों; परन्तु हमारा कालविभाग निराधार नहीं है। हमने यह विभक्तीकरण भाषा और भाव के परिवर्तन के आधार से किया है। इस लिए उसका अपना महत्त्व है। इससे पहले शायद किसी ने भी इस प्रकार कालविभाग का आयोजन नहीं किया था और न अपभ्रंश साहित्य के क्रमिक परिवर्तन का परिचय ही कहीं अन्यत्र कराया गया था। इस दृष्टि से प्रस्तुत रचना अपने ढंग की पहली कृति कही जावे तो अनुचित नहीं है।

प्रस्तुत रचना में श्री पं० नाथूराम जी प्रेमी के 'हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास' का उपयोग विशेष रूप में किया गया है। इसके लिए हम प्रेमी जी के निकट विशेष रूप से आभारी हैं। अन्य जिन-जिन स्रोतों से हमने साहाय्य ग्रहण किया उनका उल्लेख यथास्थान कर दिया है। उन सबके प्रति हम कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं।

श्री रजिस्ट्रार, भारतीय विद्याभवन बम्बई के भी हम आभारी हैं जिन्होंने निबन्ध-प्रतियोगिता में सम्मिलित होने के लिए हमें विशेष सुविधा

दी। पाठक यह जान कर प्रसन्न होंगे कि उपर्युक्त प्रतियोगिता में यह निबन्ध परीक्षकों द्वारा मान्य हुआ और इसके उपलक्ष में लेखक को रजत पदक का पुरस्कार दिया गया। रजिस्ट्रार महोदय ने इसकी मूल पांडुलिपि भी हमको भेज देने की कृपा की; क्योंकि विद्याभवन काग़ज़ के अभाव के कारण इसे शीघ्र प्रकाशित करने में असमर्थ था।

अन्त में हम श्रीमान् डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल एम. ए., डी. लिट्. के विशेष रूप से उपकृत हैं जिन्होंने इसकी भूमिका लिख देने की कृपा की है। साथ ही हम श्री पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य, व्यवस्थापक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी को नहीं भुला सकते। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं के प्रयास से इतनी जल्दी प्रकाश में आ रही है। एतदर्थ हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। इस अवसर पर मास्टर उग्रसेन जी, (मंत्री, अ० भा० दि० जैन परिषद् परीक्षा बोर्ड, दिल्ली) भी हमें याद आ रहे हैं। उन्होंने प्रस्तुत पुस्तक को परिषद-परीक्षालय के पाठ्यक्रम में स्थान देकर इसका प्रचार सहज साध्य किया है।

अलीगंज (एटा),
१ नवम्बर, १९४६

विनीत—
कामता प्रसाद जैन

हिन्दी जैन-साहित्य
का
संक्षिप्त इतिहास

हिन्दी जैन साहित्य का
संक्षिप्त इतिहास

[१]
उपक्रमणिका

साहित्य श्रुतज्ञान का अपर नाम है। मनुष्य ने मन से मति-पूर्वक मनन करके जो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' वाक्य विन्यास रचा अथवा प्रस्तर पाषाण या काष्ठ धातु में कलामयी कृति की, वह सब साहित्य है। साहित्य सुन्दर सुखकर साकार ज्ञान है, इसी लिये साहित्य जीवन साफल्य का साधन है। उसमें मानव अनुभूति के चमत्कृत संस्मरण सुरक्षित हैं, और जीवन-जागृति की ज्योति जाज्वल्यमान है। साहित्य मानव को सर्वतोभद्र, सर्वाङ्गपूर्ण और सुखी-स्वाधीन बनाने के लिये मुख्य साधन है। वह मुक्ति का सोपान है।

जैन, 'जिन' के अनुयायी को कहते हैं और 'जिन' वह महापुरुष है जो नर से नारायण हुआ है, उसने अपने सत्य अध्यवसाय से राग द्वेष को जीत लिया हैं। वह आत्म-विजयी वीर है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी है। जैन तीर्थंकरों में सबसे अन्तिम भगवान महावीर (वर्द्धमान) एक सर्वज्ञ सर्वदर्शी महापुरुष थे[1]। जैन साहित्य उन्हीं विश्वोपकारक महावीर की देन है, उन्हों ने जो कहा वह सर्वांगपूर्ण और सर्वोपयोगी कहा। उनका प्रवचन पूर्वापर-अविरुद्ध,

१ 'निगण्ठो, आवुसो नाठपुत्तो सव्वञ्ञु, सव्वदस्सावी अपरिसेसं ञाण दस्सनं परिजानाति'—मज्झिमनिकाय (P. T. S., Vol. I, pp. 92-93), के इस उद्धरण से जैनों की मान्यता स्पष्ट होती हैं।

निष्कलंक सकल गुणाकर और विश्व के लिये उपकारी है, अतः जैन साहित्य-सागर अपार है, विशाल है, गंभीर है। मूलतः वह अर्द्धमागधी प्राकृत भाषामय था, उपरान्त देश और काल की मानवी आवश्यकताओं के अनुरूप वह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश हिन्दी, गुजराती, कनडी, तामिल आदि भाषाओं में भी रचा गया। हमें यहाँ पर हिन्दी जैन साहित्य की ऐतिहासिक रूपरेखा पर दृष्टिपात करना अभीष्ट है।

जैनाचार्यों और जैन विद्वानों ने जो भी सुंदर आत्मपीयूष-रस से छलछलाता साहित्य हिन्दी भाषा में रचा, वही आज हिन्दी जैन साहित्य के नाम से अभिप्रेत है। वह विशाल है और महत्त्व-शाली भी; किन्तु खेद है कि हिन्दी साहित्य के महारथियों ने इस अमूल्य निधि की ओर आँख उठाकर देख भर लेने का भी कष्ट नहीं किया! इसका परिणाम यह हुआ कि अगणित ग्रन्थ-रत्न अंधकार में विलीन हो गये और हो रहे हैं। दुर्भाग्यवश भारतवर्ष ने जिस दिन अपने सहिष्णु भाव को भुलाया-उदारनीति को उठा कर ताक में रख दिया और सम्प्रदायवाद के दलदल में वह फँसा, उसी दिन से उसका साहित्यिक ही नहीं राष्ट्रीय ह्रास भी हुआ। आज हिन्दी जैन साहित्य को जाननेवाले कहां हैं? और यदि भाग्यवशात् जानने का इच्छुक भी कोई हुआ तो उसको हिन्दी जैन साहित्य का परिचय कराने वाले साधन कहां हैं? इस संकुचित रीति नीति का दुष्परिणाम भुक्तभोगी ही अनुमान कर सकता है।

यह बात भी नहीं है कि इस संकुचित नीति का रोग सामान्य गृहस्थों तक ही सीमित हो, प्रत्युत हमारे शिक्षित महानुभाव भी, इस रूप में न सही दूसरे में सही, उससे अछूते नहीं हैं। उन पर

सम्प्रदायवाद का भूत चढकर वह कौतुक कराता है कि जिसे देखकर दांतो तले अंगुली दवानी पड़ती है। हिन्दी की उन पुस्तकों को उठाकर जरा देखिये जिनमें भारत का इतिहास अथवा देश और उसके निवासियों का परिचय संकलित है, उनमें जैनियों के विषय में पहले तो शायद कुछ होता नहीं और जब होता है तो बेसिर पैर का ऊटपटांग वर्णन! उद्धरण देकर उस दयनीय स्थिति का परिचय कराने का यह स्थल नहीं है। खेद है कि सम्प्रदायवाद का विष लेखकों को उनके उत्तरदायित्व का बोध ही नहीं होने देता। इस प्रसंग में हमें यूरोपवासी पूर्वीय भाषाविज्ञ विद्वानों का स्मरण हो आता है, जरा प्रो० ग्लास्नप्प की 'डेर जैनिज़्मस' अथवा प्रो० गिरिनॉ की 'लॉ जैन' पुस्तक लेकर देखिये, उन्हों ने अपने प्रामाणिक वर्णन देने में कुछ उठा नहीं रक्खा, किन्तु भारत की राष्ट्र-भाषा में एक भी ऐसी पुस्तक नहीं जिसमें यहां का सर्वांगीण प्रामाणिक विवरण हो!

हिन्दी साहित्य के एक नहीं, अनेक इतिहास प्रकाशित हुये हैं, किन्तु किसी में भी हिन्दी जैन साहित्य का सामान्य परिचय भी नहीं मिलता, उनको पढ़कर यह कोई अनुमान नहीं कर सकता कि जैनियों का भी हिन्दी में कोई अनूठा साहित्य है। हिन्दी के उपलब्ध इतिहासों में कहीं तो हिन्दी की उत्पत्ति प्रसंग में जैन अपभ्रंश साहित्य का उल्लेख करके चुप्पी साध ली जाती है, कहीं दो चार जैन कवियों का नामोल्लेख करने की कृपा की जाती है और कहीं पर साफ कह दिया जाता है कि जैनियों का साहित्य जैनधर्म्म सम्बन्धी और साम्प्रदायिक है, किन्तु यह अन्याय केवल जैनियों के प्रति ही नहीं, स्वयं हिन्दी साहित्य के लिये भी हानिकर है।

क्योंकि हिन्दी जैन साहित्य में अनेक ऐसे ग्रन्थ रत्न छिपे पड़े हैं जिनका प्रकाश में आना गौरव की वस्तु हो सकता है। उदाहरणार्थ कविवर बनारसीदासजी का 'अर्द्धकथानक आत्मचरित' ही लीजिये। रहस्यपूर्ण रूपक काव्य में 'उपमितभवप्रपंचकथा' का हिन्दी रूपान्तर सारे साहित्य जगत में अनूठा है। उसकी समकोटि में अँग्रेजी साहित्य का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' ही उपस्थित किया जा सकता है।

यह देखकर हमें आश्चर्य होता है कि हमारे हिन्दी इतिहास लेखक विविध हिन्दू सम्प्रदायों के कवियों और उनके साहित्य का उल्लेख करते हुये उनमें सम्प्रदायवाद की गन्ध नहीं पाते किन्तु जैन साहित्य में उन्हें साम्प्रदायिकता नजर आती है। वे यह भूल जाते हैं कि हिन्दी साहित्य की परिपूर्णता जैनियों के हिन्दी साहित्य का समावेश किये बिना नहीं हो सकती।

इस प्रकार दोनों ओर से हिन्दी जैन साहित्य उपेक्षा की वस्तु रहा है। जब घरवालों ने ही उसे भुला दिया—उसकी सुध न ली, तो बाहर वालों को क्या पड़ी थी जो पड़ोसियों का घर टटोलते। निस्सन्देह जैनियों की उपेक्षा उनके हिन्दी साहित्य के लिये घातक सिद्ध हुई है। उसे कैसे कोई भुलाये? जैनियों को चाहिये कि वे अपने शास्त्र भण्डारों की खोज करें और अपने अनूठे ग्रन्थ रत्नों को प्रकाश में लावें। अपनी उदासीनता का अन्त करें और हिन्दी विद्वत्समाज के हाथों तक अपने ग्रन्थ रत्न पहुँचावें, जिससे उनका उपेक्षा भाव भङ्ग होवे और पण्डित प्रवर बनारसीदासजी चतुर्वेदी के समान अन्य हिन्दी महारथी भी हिन्दी जैन साहित्य का महत्त्व आकें और उसे प्रकाश में लावें।

[२]

हिन्दी जैन साहित्य की विशेषता और महत्ता—

हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास लिखने के पहले यहाँ पर यह देख लेना अप्रांसगिक नही है कि उसका वास्तविक रूप और आकार क्या है। क्या वास्तव में हिन्दी जैन साहित्य इतना महत्त्वशाली और सर्वोपयोगी है कि उसका समावेश हिन्दी में किया जा सके? उसकी क्या विशेपता है जो उसका अध्ययन किया जावे?

इसमें किसी को मतभेद नहीं हो सकता कि साहित्य का मूल उद्देश्य मानव का आत्मविकास करना है। साहित्य वही है, जो मानव को मुक्ति का सन्देश देता हो, उसे आत्मस्वातन्त्र्य प्राप्त करने का मार्ग सुझाता हो। बुद्धि-कौशल और भापा विपयक पांडित्य प्राप्त कर लेना एक चीज़ है और आत्मबोध को प्राप्त करना दूसरी वस्तु है। बुद्धि-कौशल कदाचित् मनुष्य को मानव से दानव भी वना देता है। आज योरोप के बुद्धिवादी राष्ट्र इसके उदाहरण बने हुये हैं। किन्तु आत्मबोधक साहित्य मानव को मानव ही नहीं, अपि तु देव वना देता है। अतः जो साहित्य जगत् को आत्मभान कराने में कारणभूत है वह अभिवन्दनीय है, मानवकी वह अपूर्व निधि है, सत्संस्कृति का प्रतीक है। आज 'भगवद्गीता' इसी लिये लोकमान्य हो रही है कि उसमें वेदान्त का सुन्दर निरूपण हुआ है। वह मानव को ऐहिक और पारमार्थिक कर्तव्य पालन करने का बोध कराती है। उसे निष्काम कर्मवीर बनाती है। ठीक यही बात जैनियों के हिन्दी साहित्य के लिये भी चरितार्थ है। जैन साहित्य मानव को आत्मदर्शी बनने के लिये उत्साहित करता है

और उसे आत्म स्वातन्त्र्य-लाभ कराता है। जैन साहित्य से व्यक्ति को अपने भाग्य का स्वयं निर्माण और निर्णय करने के लिये प्रोत्साहन मिलता है। वह व्यक्ति को अथवा समष्टि को परमुखापेक्षी और परावलम्बी बनाने का उपदेश नहीं देता। उसका संदेश स्वावलम्बन का सन्देश है। वह मानव बुद्धि में गुलामी की बू नहीं आने देता। वह नहीं कहता कि तुम्हारे ऊपर एक ईश्वर है जो तुम पर नियन्त्रण करता है और तुम्हें मनमाने नाच नचाता है। जैन साहित्य वताता है कि प्रत्येक जीव कर्म करने और कर्मफ़ल भोगने में स्वतन्त्र है। व्यक्ति जैसा चाहे वैसा अपने को बना ले। जो आम बोयेगा वह मीठा फल पायेगा और जो करीर बोयेगा वह काँटों में उलझेगा। इस लिये इन्द्रियों को अपने आधीन रखते हुये न्याय पूर्वक जीवन यापन करने का सतपरामर्श जैन साहित्य की अपनी विशेषता है। जो तुम्हें स्वयं अप्रिय है, वह समझो दूसरे को भी अप्रिय है। अत एव जैन साहित्य का सन्देश है कि स्वाधीन होकर जिओ और अन्यों को जीने दो, वल्कि उनको सुखी जीवन विताने में सहायक बनो, यह है जैन साहित्य की विचार सरणी और उसकी अपनी विशेषता।

साथ ही हिन्दी जैन साहित्य का अध्ययन व्यक्ति के हृदय को उदार और विशाल बनाने में कारणभूत है, वह मानव को संकुचित साम्प्रदायिकता की संकीर्ण गली में नहीं ले जाता, बल्कि उसे सत्य के राजपथ पर ले जाकर उन्नतमना बनाता है। इसी लिये जैन कवि कहते हैं कि—

> "जग के विवाद नासिवे को जिन आगम है,
> जामें स्याद्वाद लच्छन सुहायो है।"

जैन स्याद्वाद सिद्धान्त व्यक्ति को अनेकान्त दृष्टि प्रदान करता है। उसे एकान्तवादी नहीं बनाता। उसका हृदय सबको प्यार करता है। अहिंसा भाव की जागृत अवस्था में वह सबका उपकार करता है—वह सबको समदृष्टि से देखता है। उसकी वृत्ति अपूर्व होती है। वह होता है।

"लज्जावन्त दयावन्त प्रसन्न प्रतीतवन्त,
परदोष को ढकैय्या पर उपकारी है।
सौम्य दृष्टि गुनग्राही गरिष्ट सबको इष्ट,
सिष्टपक्षी मिष्टवादी दीरघ विचारी है।
विशेषज्ञ रसज्ञ कृतज्ञ तत्त्वज्ञ धर्मज्ञ,
न दीन न अभिमानी मत्य विवहारी है।
सहजै विनीत पापक्रिया सों अतीत ऐसो,
श्रावक पुनीत इकवीस गुनधारी है।"

यह है जैनी नीति जो श्रावक गृहस्थ को विनयी, वीर और परोपकारी बनाती है। इस वृत्ति में वह मतसहिष्णु बनता है—अपने पड़ोसियों से लड़ता नहीं; उनका यथाशक्ति उपकार करता है। वह मतपक्ष का भ्रम किस खूबी से मिटाता है यह देखिये—

"जैसे काहू देश में सलिल धार कारंज की,
नदी सों निकसि फिर नदी में समानी है।
नगर में ठौर ठौर फैली रही चहूं ओर,
जाके ढिंग बहे सोई कहे मेरो पानी है।
त्यों ही घट सदन सदन में अनादि ब्रह्म,
बदन बदन में अनादि ही की वाणी है।
करम कलोल सों उसास की बयारि बाजे,
तासों कहें मेरी धुनि ऐसो मूढ प्राणी है।"

सारे ही जग के प्राणियों में ब्रह्म घट-घटवासी है। अस्तु भगवान के भक्त हो तो प्रत्येक नरनारी का आदर करो— उनका उपकार करो। सबसे प्रेम करो—सबकी सेवा करो। (Love All & Serve All) यह जैन साहित्यका महत्त्व है।

यही नहीं कि हिन्दी जैन साहित्य मानवकी नैतिक मर्यादा और धर्म की अपेक्षा ही महत्त्वपूर्ण हो, प्रत्युत साहित्यक दृष्टि से भी उसका अपना विशेष स्थान है। सबसे बड़ा गौरव तो हिन्दी जैन साहित्य के लिये यह है कि हिन्दी की उत्पत्ति और निर्माण की जड़ उसमें मौजूद है। हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि प्रान्तीय भाषायें जिस अपभ्रंश प्राकृत साहित्य से उद्भूत हुईं वह साहित्य जैनियों के साहित्य-भंडारों में ही सुलभ है[1]। इस विषय की चर्चा हम आगे करेंगे और शास्त्रों से उद्धरण उपस्थित करके यह सिद्ध करेंगे कि हिन्दी अपने वर्तमान रूप में किन-किन अवस्थाओं में होकर पहुँची है।

हिन्दी की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने के लिये ही जैन साहित्य महत्त्वशाली हो, केवल यह बात भी नहीं है; बल्कि उसमें प्राचीन हिन्दी का आदि काव्य रचा गया। यह एक विशेपता है, जिसे कोई हिन्दी लेखक भुला नहीं सकता। हिन्दी के प्रथम महाकवि स्वयंभू जैन ही थे। प्रो० हीरालालजी एवं प्रेमीजी ने उनके ग्रन्थों का पता विद्वज्जगत् को वहुत पहले दिया था। स्वयंभू ने 'हरिवंश पुराण' और 'रामायण' को देशीभाषा (पुरातन-हिन्दी) में रचकर

---

१. "जो कुछ हो यह कहना पड़ेगा कि पुरानी हिन्दी के विकास में जैनाचार्यों तथा बौद्धसिद्धों का बहुत कुछ हाथ था।"—प्रो० गुलाबराय (हि० सा० का सु० इतिहास, पृ० ७)

अपना नाम ही अमर नहीं किया, प्रत्युत हिन्दी जैन साहित्य के गौरव को बढ़ाया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है: "स्वयंभू कविराज कहे गये हैं, किन्तु इतने से स्वयंभू की महत्ता को नहीं समझा जा सकता। मैं समझता हूँ, आठवीं से लेकर वीसवीं सदी तक की तेरह शताब्दियों में जितने कवियों ने अपनी अमर कृतियों से हिन्दी-कविता-साहित्य को पूरा किया है, उनमें स्वयंभू सबसे बड़े कवि हैं। मैं ऐसा लिखने की हिम्मत न करता, यदि हिन्दी के कुछ जीवित चोटी के कवियों ने स्वयंभू रामायण के उद्धरणों को सुनकर यही राय प्रकट न की होती।" स्वयंभू के काव्य विशाल होने के साथ ही प्रासाद-गुण-सम्पन्न है—काव्य के सबही सर्वोच्चगुण उनकी कृतियों में मिलते हैं। राहुलजी तो "स्वयंभूके वर्णन में हर जगह नवीनता" ही पाते हैं। उनका एक अन्य ग्रंथ 'स्वयंभू-छंद' नामक हाल में मिला है। उसके उदाहरणों में जिनदेव की स्तुति-परक छंद देखिये:—

"तुम्ह पअ-कमल-मूले अम्हं जिण दुक्खभावतवियाइं।
दुरुदुल्लिआइं जिणवर जं जाणासु तं करेज्जसु ॥ ३८ ॥

× × ×

"जिणणामें छिंदेवि मोहजालु, उप्पज्जइ देवलसामि सालु।
जिणाणामें कम्मइं णिद्दलेवि, मोक्खगो पइसिअ सुह लहेवि ॥४४॥[१]"

महाकवि का हृदय जिनेन्द्रभक्ति से ओत-प्रोत है और वह हैं भी वड़े सरल। जव वह अपना 'रिट्ठणेमि चरिउ' (हरिवंशपुराण) लिखने वैठते हैं तो वड़े भोलेपन से कहते हैं कि 'क्या करूँ?

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३८८–३९३।

हरिवंश-महार्णवको कैसे तरूँ ?' उनकी महत्ता उनके सज्जन सुलभ हृदय निर्गत लघुता-वर्णन में निहित है। पाठक उसे भी देखिये:—

"चिंतवइ स्वयंभु काइ करम्मि, हरिवंसमहण्णउ कें तरम्मि।
गुरु—वयण—तरंडउ लद्धु ग्रवि-—जम्महो वि ण जोइउ को वि कवि॥"

'रामायण' को जब वह रचने बैठते हैं, तब भी उनका सौजन्य आगे आ नाचने लगता है। वह कहते हैं—"वायरणु कयावि ण जाणियउ—णउ वित्ति-सुत्तु वक्खाणियउ।" किन्तु उनके काव्य कितने सुन्दर, मधुर, और महान् हैं, यह पढ़ने से सम्बन्ध रखता है। हमें तो यहाँ पर केवल हिन्दी जैन साहित्य की विशेषता का दिग्दर्शन कराना इष्ट है। हिन्दी जैन साहित्य के लिये यह विषय गौरव का है कि उसमें ही हिन्दी का प्रारंभिक महान् काव्य सुरक्षित है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी जैन साहित्य में कुछ ऐसी सर्वोपयोगी साहित्यक रचनाएँ हैं, जो संसार के साहित्य में बेजोड़ हैं और उनके कारण लोक साहित्य में हिन्दी का मस्तक ऊँचा है। उदाहरणणार्थ हम 'अर्द्धकथानक' और 'उपमितिभव-प्रपंचकथा' का उल्लेख पहले कर चुके हैं[1]। उनके अतिरिक्त अरब और

---

१. "हिन्दी साहित्य के इत्तिहास में इस ग्रन्थ का (अर्द्ध कथा०) एक विशेष स्थान तो होगा ही, साथ ही इसमें वह संजीवनी शक्ति विद्यमान है, जो इसे अभी कई सौ वर्ष और जीवित रखने में सर्वथा समर्थ होगी। सत्यप्रियता, स्पष्टवादिता, निरभिमानता और स्वाभाविकता का ऐसा ज़बरदस्त पुट इसमें विंद्यमान है। भाषा पुस्तक की इतनो सरल है और साथ ही यह इतनी संक्षिप्त भी है, कि साहित्य की चिरस्थायी सम्पत्ति में इसकी गणना

यूरोप में 'अलफलैला' या 'ईसपकी कहानियाँ' रूप में जो कथा-साहित्य प्रचलित है उसका भी उद्गमस्रोत जैनियों का कथासाहित्य है[1]। हिन्दी जैन साहित्य में 'पंचतंत्राख्यान टीका' 'सिंहासनबत्तीसी' आदि ग्रंथ उल्लेखनीय और लोकरंजन के साथ ही शिक्षाप्रद हैं। हिन्दी में जैनियों द्वारा रचे गये ज्योतिषशास्त्र और गणितशास्त्र भी अपूर्व हैं। 'धवलाटीका', 'त्रिलोकसारटीका', 'गोम्मटसारटीका' आदि ग्रंथों में उच्चकोटिका गणित मौजूद है। विश्व को भारत से ही यह शास्त्र मिले और इस विषय के जैन ग्रंथों में कतिपय गणित तो मौलिक और अश्रुतपूर्व हैं[2]। हिन्दी

अवश्यमेव होगी। हिन्दी का तो यह सर्वप्रथम आत्मचरित है ही, पर अन्य भारतीय भाषाओं में इस प्रकार की और इतनी पुरानी पुस्तक मिलना आसान नहीं।" —श्री पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी।

१. "Characteristic of Indian narrative art are the narrtives of the Jains" :—Dr. Hoernle. 'कलामय भारतीय कथासाहित्य का मुख्य लक्षणात्मक अंश जैनियों का कथा साहित्य है।"
—डॉ० हॉर्नले।

२. "यथार्थतः गणित और ज्योतिष विद्या का ज्ञान जैनमुनियों की एक मुख्य साधना समझी जाती थी।···महावीराचार्य का गणितसार संग्रह ग्रंथ सामान्य रूपरेखा में ब्रह्मगुप्त, श्रीधराचार्य भास्कर और अन्य हिन्दू गणितज्ञों के ग्रन्थों के समान होते हुए भी विशेष बातों में उनसे पूर्णतः भिन्न है। उदाहरणार्थ--गणितसारसंग्रह के प्रश्न (problems) प्रायः सभी दूसरे ग्रन्थों के प्रश्नों से भिन्न हैं।······धवला में वर्णित अनेक प्रक्रियायें किसी भी अन्य ज्ञात ग्रन्थ में नहीं पाई जातीं, तथा इसमें कुछ ऐसी स्थूलता का आभास भी है जिसकी झलक पश्चात् के भारतीय गणित शास्त्र से परिचित विद्वानों को सरलता से मिल सकती है।"—प्रो० डॉ० अवधेशनारायण सिंह।

विद्वज्जगत् को उनका ज्ञान उपरोक्त टीकाओं द्वारा सुगम है। कविवर रायमल्लजी और वृन्दावनजी के 'छंदशास्त्र' हिन्दी पद्यरचना के लिये अनूठी रचनायें हैं—उनमें कई अनूठे छंदों का उल्लेख है। हिन्दी जैन साहित्य में सुभाषित ग्रंथ भी अनेक हैं। कविवर भूधरदास का 'जिनशतक', बुधजनजी की 'सतसई', कविवर छत्रपति की 'मनमोदनपंचशती' आदि ग्रंथ पढ़ने से ही ताल्लुक रखते हैं।

हिन्दी जैन साहित्य की एक और विशेषता उसके ऐतिहासिक और गद्य ग्रंथों में सन्निहित है। जैन विद्वानों ने अपने ग्रंथों के अन्त में जो प्रशस्तियाँ लिखी हैं वे और जिनमूर्तियों के आसनों पर अंकित शासनलेख इतिहास विवरण से परिप्लावित मिलते हैं। भारत के मध्यकालीन इतिहास के लिये वे असूल्य साधन हैं। 'मूतानेणसी की ख्यात' जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थ भी जैनों द्वारा लिखे गये हैं। 'विक्रमचरित्र', 'भोजप्रबन्ध', 'कुमारपालचरित्र' आदि ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें वहुत कुछ ऐतिहासिक वृत्त संकलित हैं। कविवर बनारसीदासजी का 'आत्मचरित्र भी' तत्कालीन ऐतिहासिक वार्ता से ओतप्रोत है। जैनियों ने ऐतिहासिक खोज में पाश्चात्य विद्वानों को भी उल्लेखनीय सहायता पहुँचाई थी। कर्नल टाड सा० को राजस्थान लिखने में जैन यति ज्ञानचंद्रजी से सहायता मिली थी। उधर हिन्दी गद्य शैली के आदि प्रणेता भी संभवतः जैनी ही हैं, गद्य विषय का निरूपण हम आगे के पृष्ठों में करेंगे। इस प्रकार इतिहास की दृष्टि से भी हिन्दी का जैन साहित्य महत्त्वशाली है।

जैनियों के हिन्दी साहित्य पर यह आक्षेप किया जाता है कि

वह केवल शान्तरस प्रधान है—उसमें श्रृङ्गाररस का अभाव है, इसलिये वह नीरस है। किन्तु जैन साहित्य में शान्तरस की प्रधानता दूषण न हो कर भूषण ही हो सकती है। शान्तरस प्रधान होना तो उसके लिये गौरव का कारण है, क्योंकि मनुष्य प्रकृति से ही शान्तिमय प्राणी है। दुनियाँ की शान्तिपूर्ण घड़ियों में ही सत्यं-शिवं-सुन्दरम्-कला का सृजन होता आया है। साहित्य के अनूठे रत्न-प्रसून शान्त मस्तक और शीतल हृदय से ही प्रसूत होते हैं। उद्विग्न मस्तिष्क और अस्थिर चित्त जगत् को लोकोपकारी स्थायी साहित्य नहीं दे सकता। अत एव जैनियों ने शान्तरस को प्रधानता देकर मानव प्रकृति के अनुरूप और उसके लिये उपयोगी कार्य किया है।

साहित्य मानव जीवन का निर्माता है। साहित्य राष्ट्रों को बनाता और बिगाड़ता है। जैसी विचारधारा साहित्य में बहाई जाती है, वैसी गतिविधि राष्ट्रकी होती है। मुग़ल साम्राज्य काल में फारसी के कवियों ने सकाम प्रेम की धारा बहाकर राजपरिवार को विलासपूर्ण बना दिया। कामुकता बढ़ गई। यथा राजा तथा प्रजा की नीति हमारे यहाँ हमेशा चरितार्थ हुई है। हिन्दी कवि भी तब उस विलासिता से लदी हुई कविता से प्रभावित हुये। उस समय श्रेष्ठ कविता का माप श्रृङ्गाररस की पराकाष्ठा माना गया। परिणाम स्वरूप हिन्दी कवियों ने मर्यादा धर्म को उठा कर ताक़ में रख दिया और उनको यह गाते हुये तनिक भी लज्जा न हुई कि :—

"जोगहू ते कठिन संयोग परनारी को।"

उच्छृंखलता की पराकाष्ठा का नग्न प्रदर्शन निम्न छंद में देखिये :—

"काँपत गात सकात बतात हैं, साँकरी खोरि निशा अँधियारी,
पातहू के खरके छरके धरके, उर लाय रहे सुकुमारी,
बीचमें बोधा रचे रस रीति, मनो जग जीति चुक्यो तेहि वारी।
यों दुरि केलि करे जग में, नर धन्य वहां धनि है वह नारी॥"

जगत वैसे ही वासना में अंधा हो रहा है, उसपर जगत की वासना को शृङ्गाररस की ओट लेकर और भी भड़काया जावे, तो इसका अर्थ यही है कि कवि जगत के हिये की भी फोड़ना चाहता है! महिलाओं का भूषण शील और लज्जा है, किन्तु हिन्दी कवियों ने उनके उन स्वभावजन्य गुणों पर घातक वार किया है। महिला का महत्त्व और उसका आदर्श व्यक्तित्व उनकी नजर में समाता नहीं। उनकी दृष्टि में वह कामिनी बनकर नाचती है और उनके निकट यह वासनापूर्ति की वस्तु है। कौन समझदार इस विचारसरणी को सराहेगा? ज़रा देखिये कवि ठाकुर के इस वाक्य को और सोचिये कि क्या एक गुणवती कुलवधू उसको सुनना पसंद करेगी—

"रूप अनूप दई दियो तोहि तो, मान किये न सयान कहावे।
वीर सुनो यह रूप जवाहिर, भाग बड़े विरले कोऊ पावे॥
ठाकुर सूमके जस न कोऊ, उदार सुने सब ही उठि धावें।
दीजिये ताहि दिखाय दया करि, जो चलि दूर तै देखनि आवे॥"

रसखान ने तो "मो पछितावो यहै जु सखी के कलंक लग्यो पर अंक न लागी" कहकर भक्तिवाद का दिवाला ही निकाल दिया है। इस दूषित विचारसरणी का प्रभाव राष्ट्र के लिये घातक सिद्ध क्यों न होता। हिन्दूराष्ट्र का पतन उसका ही कुफल क्यों न माना जाय! जैन कवियों ने यह ग़लती नहीं की। कवि बनारसीदासजी के समान

विवेकी पुरुष भी उसमें बहे, परंतु वह तत्क्षण संभल गये। उन्होंने अपनी शृङ्गाररस की रचना ही नदी में फेंक कर नष्ट कर दी और शृङ्गारी कवियों की भर्त्सना करके कहा:—

"ऐसे मूढ कुकवि कुधी, गहैं मृषा पथ दौर।
रहैं मगन अभिमान में, कहैं और की और॥
वस्तु सरूप लखें नहीं, बाहिज दृष्टि प्रमान।
मृषा विलास विलोकके, करें मृषा गुनगान॥"

कैसा मृषा गुनगान, यह भी कविवर के शब्दों में सुनिये:—

"मांसकी ग्रन्थि कुच कंचन कलस कहैं,
कहैं मुख चंद जो सलेषमाको घरु है।
हाडके दशन आहि हीरा मोती कहे ताहि,
मांसके अधर ओठ कहे विंबफरु है॥
हाड दंभ भुजा कहे कौल नाल काम जुधा,
हाड़ही के थंभा जंघा कहे रंभा तरु है।
यों ही झूठी जुगति बनावें औ कहावें कवि,
एते पै कहें हमें शारदा को वरु है॥"

कविवर भूधरदासजी ने इसीलिये कवियों को बोध देने के लिये कहा था:—

"राग उदय जग अन्ध भयो, सहजे सब लोगन लाज गंवाई।
सीख बिना नर सीखत है, विपयानिके सेवनकी सुघराई॥
तापर और रचें रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।
अंध असूझनि की अंखियानमें झोंकत हैं रज राम दुहाई॥"

बिना सिखाये ही लोग विषयसुख सेवन की चतुरता सीख रहे हैं, तब रसकाव्य रचने की क्या आवश्यकता? यह तो लोगों के प्रति बड़ी निष्ठुरता है। इस निष्ठुरता को लक्ष्य करके आगे

कविवर विधाता को उलाहना देते हैं और कहते हैं कि हरिणी की नाभि में तुमने कस्तूरी क्यों बनाई ? शृङ्गारी कवियों की जीभों में बनाते तो अच्छा था। कविवर के हृदय में विश्वहित कामना हिलोरें ले रही थी, उसकी प्रेरणा ही का परिणाम यह छन्द समझिये:—

"हे विधि भूल भई तुम तें, समझे न कहा कस्तूरि बनाई।
दीन कुरंगन के तन में, तृन दंत धरें करुना नहिं आई॥
क्यों न करी तिन जीभन जे, रसकाव्य करें पर को दुखदाई।
साधु अनुग्रह दुर्जन दंड, दुहू सधते विसरी चतुराई॥"

जहाँ शृंगारी कवि नायिकाओं के स्तनों को स्वर्णकलशों की और उनके श्यामल अग्रभाग को नीलमणि की ढँकनी की उपमा देकर प्रशंसा करते हैं, वहाँ जैन कवि उनके लिये सुंदर संबोधक उक्ति को चरितार्थ कर कुछ और ही कहते हैं। देखियें वह :—

"कंचन कुम्भन की उपमा, कहि देत उरोजन को कवि वारे।
ऊपर श्याम विलोकत के, मनि नीलम की ढंकनी ढंक ढारे॥
यों सत बैन कहे न कुपंडित, ये युग आमिष पिंड उघारे।
साधन झार दई मुंह छार, भये इहि हेत किधौं कुच कारे॥"

इस प्रकार हिन्दी जैनवैन में साहित्यक शैली का निर्वाह प्रौढ संयम और सात्त्विक बुद्धि को आगे रखकर किया गया है। शृंगार रस सर्वथा बुरा नहीं है, किन्तु उसकी अति बुरी है। जैन कवियों ने उस अति का अन्त करने के लिये ही शान्तरस प्रधान वाणी का अलख जगाया। वैसे रस तो कोई भी बुरा नहीं है। जैन शास्त्रों में यथावसर शृंगार रस की सात्त्विक धारा भी बहती मिलती है।

कविवर बनारसीदासजी ने तो नवरस-गंगा निम्नलिखित एक छन्द में बहाकर अपने रचनाकौशल का परिचय दिया है :—

शोभा में श्रृंगार बसे वीर पुरुषारथ में,
हिये में कोमल करुनां रस बखानिये।
आनन्द में हास्य रुंड मुंड में विराजे रुद्र,
बीभत्स तहाँ जहाँ ग्लानि मन आनिये॥
चिन्ता में भयानक अथाहता में अद्भुत,
माया की अरुचिता में शान्त रस मानिये।
येई नवरस भव रूप येई भाव रूप,
इनह को विलक्षण सु दृष्टि जग जानिये॥

निस्सन्देह जब हृदय में सुबोध प्रकट होता है तब ही नवरस की विलासकलिका प्रस्फुटित होती है। यही तो कहते हैं कविवरजी :—

गुन विचार श्रृंगार, वीर उद्दिम उदार रूप।
करुना सम रसरीति, हास हिरदे उछाह सुख॥
अष्ट करम दलमलन, रुद्र बरते तिहि थानक।
तन विलेच्छ बीभत्स, दुंद दुख दशा भयानक॥
अद्भुत अनंतबल चिंतँवत, शांत सहज वैराग ध्रुव।
नवरस विलास परगास तब, जब सुबोध घट प्रगट हुव॥

यह है जैन साहित्य की विशेषता। विवेक उसका पथ-प्रदर्शन करता है और उसके भावों को अनुप्राणित करनेवाली विश्वप्रेम-पूरक अहिंसा है।

[३]

हिन्दी की उत्पत्ति का मूल जैन साहित्य और उसका कालविभाग

साहित्य का सृजन लोककल्याण के लिये होता है; लोकरंजन का भाव लोककल्याण की भावना में छिपा रहता है और लोक तक पहुँचने के लिये बोलचाल की भाषा को साहित्य का माध्यम बनाया जाता है। चमत्कृत रसपूर्ण वाक्यों का संवर्द्धन और संग्रह साहित्य में होता चलता है, वही तो साहित्य कहा जाता है। हाँ, यह आवश्यक है कि साहित्य में चमत्कार लाने के लिये उसमें समयानुसार नई शैली, नये भाव और नये नियमों का समावेश किया जाता रहे। इस समावेश का परिणाम यह अवश्य होता है कि बोलचाल की भाषा में और उसके आधार से बनी हुई साहित्यिक भाषा में अन्तर पड़ जावे, किन्तु यह अन्तर मौलिक नहीं होता, क्योंकि साहित्यिक भाषा अपने मूल स्रोतभूत प्रचलित लोकभाषा से बिलकुल दूर नहीं जा पाती। तो भी, इन दोनों भाषाओं में परस्पर सामंजस्य बनाये रखने के लिये समयानुसार सुधार और परिवर्तन किये जाते हैं। इन सुधारों के फलस्वरूप जब कभी कालान्तर में प्राचीन भाषा में इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि विद्वान् मानते हैं कि एक नई भाषा का जन्म हो गया है। आज भारत में जो अनेक भाषायें प्रचलित हैं उनका उद्गम इस प्राकृत नियम के अनुसार ही हुआ है।

भगवान् महावीर के समय में इस देश में प्राकृत भाषा का प्राबल्य था। वह देश-भेद के कारण यद्यपि अर्द्धमागधी, मागधी, शौरसेनी आदि भेदरूप मानी जाती है, परन्तु मूलतः वे एक

भाषा के ही अनेक प्रान्तीय रूप हैं। उनमें परस्पर कोई ऐसा मौलिक भेद नहीं है जो उन्हें एक दूसरे से उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के समान भिन्न प्रकट करे। देश के भिन्न भिन्न प्रान्त के लोग अपने अपने ढंग से प्राकृत को बोलते थे। मालूम होता है कि उनके बोलने के ढंग से ही प्राकृत भाषा के उपर्युल्लिखित देशभेद अस्तित्व में आये। जब भगवान् महावीर ने अपना धर्मोपदेश देना प्रारंभ किया और म० बुद्ध ने अपना मत प्रचलित किया, तब इन दोनों महापुरुषों ने प्राकृत भाषा को अपनाया। भगवान् महावीर की वाणी अर्द्धमागधी प्राकृत भाषा में ग्रन्थबद्ध की गई और बुद्धदेव के उपदेश पाली प्राकृत में लिखे गये। इस प्रकार जैन तीर्थङ्कर और बौद्धधर्म प्रवर्तक का आश्रय पाकर प्राकृत भाषा देश की राष्ट्रभाषा हो गई। सम्राट् अशोक ने अपने राजशासन और धर्मलेख प्राकृत भाषा में ही लिखाये थे। कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि अशोक के समय तक साहित्यिक प्राकृत भाषा बोलचाल की प्राकृत भाषा से दूर भटक गई थी और उसमें उतना मेल नहीं रह गया था। परिणामतः इसी समय के लगभग साहित्यिक प्राकृत को जनसाधारण के लिये बोधप्रद बनाने के उद्देश्य से उसका संस्कार किया गया। इस प्रकार जिस प्राकृत भाषा का जन्म हुआ वह उपरान्त अपभ्रंश प्राकृत कहलाई। इस अपभ्रंश प्राकृत भाषा का व्याकरण जैन कवि चण्ड के व्याकरण ग्रन्थ में देखने को मिलता है और विद्वानों का अनुमान है कि उसका सादृश्य अशोक के सहबाजगढ़ी और सासाराम के धर्मलेखों की भाषा से है। अतः उसके जन्मकाल का उक्त प्रकार से अनुमान करना अप्रासंगिक नहीं है।

अशोक के पश्चात् भारत के राजशासन में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। भारतीय सम्प्रदायवाद की संकीर्णता में फँसकर एक दूसरे से वैर करने लगे। मगधराज ने चाहा कि वह सार्वभौम सम्राट् बने, पैठण के शातकर्णी नरेश ने भी भारत चक्रवर्ती बनने की ठानी और उधर कलिंग चक्रवर्ती जैन सम्राट् ऐल खारवेल ने सारे भारत की ही प्रायः दिग्विजय कर डाली। सम्राट् खारवेल की दिग्विजय का परिणाम यह अवश्य हुआ कि भारत की फूट से लाभ उठाकर जो शक-शाही बादशाह भारत में घुस आये थे और उनमें से दमत्रय (Demetrius) राजा मथुरा तक शासनाधिकारी हो गया था, वह मथुरा छोड़कर भाग गया[1]। किन्तु यह सफलता क्षणिक थी। इसके कुछ समय बाद ही शक लोग फिर भारत में आ जमे और वह यहाँ के होकर रहे। इस विशेषता ने उन्हें भारतीय संस्कृति से प्रभावित किया। उनमें से अधिकांश ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्मों में दीक्षित हुए। भारतीयों और शकों में परस्पर सामाजिक आदान प्रदान भी हुआ। अतः यह स्वाभाविक था कि भारत की तत्कालीन राष्ट्र भाषा अपभ्रंश प्राकृत पर उन विदेशियों की भाषा का प्रभाव पड़ता। वे उसका उच्चारण अपने ढङ्ग पर करते थे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है[2]। तत्कालीन प्राकृत भाषाओं के साहित्य के उपलब्ध होने और उसका अध्ययन किये जाने पर, उसकी तुलना कवि चण्ड के

---

१. जर्नल ऑव दी बिहार ऐण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भा० १३ पृ० २७७—२८०।

२. भाण्डारकर कमोमोरेशन वॉल्यूम (कलकत्ता) पृ० २८१—२८७।

बनाये हुए अपभ्रंश प्राकृत भाषा के व्याकरण से की जा सकती है और तब ही इस विषय पर नवीन प्रकाश पड़ने की सम्भावना है, जिसके आधार से कोई ठीक निर्णय किया जा सके।

किन्तु भारत के दुर्दिन वहाँ ही समाप्त नहीं हुए। शकों के पश्चात् यहाँ हूण और अरब के मुसलमानों के भी आक्रमण हुए। उनमें से अधिकांश इस देश में बस भी गये और उस समय भी देश में अनेक परिवर्तन हुए। परिणामतः कवि चण्ड की बताई हुई अपभ्रंश प्राकृत भाषा का स्वरूप भी परिवर्तित होता चला और नववीं दशवीं शताब्दि में उसने जैन साहित्य में सुरक्षित अपभ्रंश भाषा का रूप धारण किया, यदि यह कहा जाय तो अनुचित नहीं है; क्योंकि भाषा का परिवर्तन एकदम नहीं होता। ऐसे परिवर्तन समयानुसार क्रमवर्ती और बाह्य प्रभावों के ऋणी होते हैं। अपभ्रंश प्राकृत भाषा पर आभीर लोगों की बोली का सब से ज्यादा प्रभाव पड़ा बताया जाता है[1]। इस अपभ्रंश प्राकृत भाषा में कुछ ऐसी विशेषतायें भी बताई जाती हैं जो उससे पूर्व की प्राकृत भाषाओं में नहीं पाई जातीं और वह विदेशी प्रभाव से मुक्त भी नहीं है। प्रो० हीरालालजी वे विशेषतायें मुख्यतः तीन बताते हैं—

१. कारक और क्रिया विभक्तियों की बहुत कुछ मन्दता।
२. बहुत से ऐसे देशी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग जिनके कि समरूप संस्कृत में नहीं पाये जाते।
३. तुकबद्ध छंद का प्रादुर्भाव।

---

१. भविष्यदत्तकथा (G. O. S. Baroda) की भूमिका देखिये।

अन्तिम विशेषता अपभ्रंशभाषा के लिये अनूठी है और वह ऐसी महत्त्वपूर्ण है कि उसका अनुकरण आजतक साहित्य में होता आ रहा है। कुछ लोगों का यह खयाल है कि तुकबद्ध छंद का प्रयोग भारतीय कवियों ने मुसलमान कवियों से सीखा है, किन्तु इस बात के ठीक निर्णय के लिये भारतीय साहित्य की खूब खोज करना आवश्यक है।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति यद्यपि किन्हीं विद्वानों ने विक्रम संवत् ७०० से मानी है, परन्तु उन्हें चंदवरदाई (सं० १२२५-१२४९) से पूर्व का एक भी अवतरण नहीं मिला है। सं० ७७० में किसी पुष्य नामक कवि द्वारा भाषा के दोहों में एक अलंकार ग्रन्थ लिखे जाने का उल्लेख मिलता है, परंतु यहाँ भाषा से भाव प्राकृत भाषा का हो सकता है, क्योंकि एक समय प्राकृत भी भाषानाम से संबोधित की जाती थी[1]। सम्भवतः यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा का हो

---

१. शिवसिंह सरोज के कर्त्ता और मिश्रबन्धुओं के इस मत का उल्लेख और उसपर अपना विवेचन पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अपने हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास के पृष्ठ १६ पर किया है। इतिहासमहोदधि स्व० काशीप्रसादजी जायसवाल ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 'पुरानी हिन्दी का जन्मकाल' शीर्षक लेख में हिन्दी का जन्मकाल सातवीं शताब्दि बतलाया था। किन्तु बा० श्यामसुन्दरदासजी ने अपनी 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक कृति में एवं पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में पुरानी हिन्दी का जन्मकाल यथाकिंचित् १२वीं शताब्दि का मध्यभाग ठहराया है, (देखें जैनसिद्धांतभास्कर, ४. २०६)। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने भी 'ना० प्र० पत्रिका' (भाग २ अंक २ पृ० १७२-१७३) में 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक एक खोजपूर्ण लेख

सकता है, और यह उपलब्ध भी नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि १२वीं–१३वीं शताब्दि से पहले के हिन्दी ग्रन्थ नहीं मिलते हैं।[1] हिन्दी की उत्पत्ति भले ही ७वीं शताब्दि में मानी जाय, परंतु उसके साहित्यिक रूप का जन्मकाल १२वीं शताब्दि मानना ही उपयुक्त है[2]। अभी तो इस समय से पहले के ग्रन्थ अपभ्रंश प्राकृत भाषा के ही मिलते हैं। यदि अपभ्रंश भाषा को ही प्राचीन देशी भाषा या हिन्दी माना जावे तो बात दूसरी है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि उस प्राचीन अपभ्रंश भाषा के साहित्य में हिन्दी भाषा की जड़ मौजूद थी। 'अपभ्रंश प्राकृत भाषा के साहित्य से ही उपरान्त हिन्दी का जन्म हुआ'—यह स्पष्टतः जानने के लिये आइये पाठक, पहले अपभ्रंश भाषा साहित्य में प्राचीन हिन्दी के पूर्व आभास का दिग्दर्शन कर लें। जैनियों के लिये यह गौरव की बात है कि अपभ्रंश भाषा का साहित्य प्रायः उनके आचार्यों द्वारा ही रचा गया था। यही क्यों, बल्कि विक्रम से पूर्व पाँचवीं शताब्दि से लगातार आजतक की मुख्य मुख्य भारतीय भाषाओं को अपने साहित्य द्वारा जीवित रखने का श्रेय जैन

लिखा है, जिसमें उन्होंने जैन अपभ्रंश साहित्य से अनेक अवतरण दिये हैं, परन्तु वे भी तेरहवीं शताब्दि से पूर्व के नहीं हैं।

१. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृ० १६–२०।

२. प्रो० गुलाबरायजी एम. ए. ने अपने हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास पृ० ४ पर हिन्दी साहित्य के कालविभाग के अन्तर्गत वीरगाथा काल अर्थात् सं० १०५० से हिन्दी का इतिहास प्रारंभ किया है। प्रो० धीरेन्द्र वर्मा ने आधुनिक आर्य भाषा काल सन् १००० ई० से वर्तमान समय तक माना है।

आचार्यों को है। उन्होंने ही प्राकृत भाषाओं को अपने धर्म्म-प्रचार का माध्यम बनाकर उन्हें साहित्य का रूप दिया। सारा ब्राह्मण साहित्य देख जाइये, उसमें राजशेखर जैसे इनेगिने ही उदाहरण ऐसे कवियों के मिलेंगे जिन्होंने प्राकृत भाषा की ओर कुछ सच्ची सहानुभूति प्रकट की और उसे अपनाया। शेष सब ओर से वही 'भाषारण्डायाः किं प्रयोजनम्' का शुभाशीर्वाद मिला है। हाँ, नाटक ग्रन्थों में अवश्य कुछ प्राकृत के वाक्य मिलते हैं। परंतु स्व० पं० चन्द्रधरशर्मा गुलेरी के शब्दों में 'वह केवल पंडिताऊ या नकली या गढ़ी हुई प्राकृत है...वह संस्कृत मुहावरे का नियमानुसार किया हुआ रूपान्तर है, प्राकृत भाषा नहीं है' (ना० प्र० पत्रिका भा० १ अं० २ पृष्ठ ८) अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भारत में अपभ्रंश प्राकृत भाषा को मध्यकाल के प्रारंभ से जैनियों ने ही विशाल साहित्यिक रूप दिया। अलबत्ता बौद्धों के चौरासी सिद्धों में सरहपा नाम के एक सिद्ध ने कुछ दोहे के ग्रन्थ अवश्य रचे थे, जिनका समय सन् ७६९ से ८०९ अनुमान किया गया है। उनके दोहों के यह नमूने हैं—

> जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहिं पवेस।
> तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिय उवेस॥
> घोरन्धारें चन्दमणि, जिमि उज्जोअ करेइ।
> परम महासुह एखुकणे, दुरिआ अशेष हरेइ॥

—गङ्गा पुरातत्त्वांक, १९३३, पृ० २४६।

जैन अपभ्रंश साहित्य में सर्वप्राचीन उपलब्ध रचनायें महाकवि स्वयंभू और आचार्य श्री देवसेन की हैं। महाकवि

स्वयंभू का समय वि० सं० ७३४ के बाद का है। उनके रचे हुए ग्रन्थों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उनकी अपभ्रंश-भाषा को विद्वज्जन प्राचीन हिन्दी ही मानते हैं, है भी वह हिन्दी के बहुत निकट। देखिये :—

"वड्ढमाण–मुह–कुहर–विणिग्गय, राम–कहाणए एह कमानय।
अक्खर–वास–जलोह–मणोहर, सुयलंकार–छंद–मच्छोहर।
दीह–समास–पवाहावंकिय, सक्कय–पायय–पुलिणालंकिय।
देसीभासा–उभय–तडुज्जल, कवि–दुक्कर–घण–सद्द–सिलायल।"

महाकवि स्वयंभू के पश्चात् वि० सं० ९९० में श्रीदेवसेनजी ने 'दर्शनसार' की रचना की थी और उसी समय के लगभग 'तत्त्वसार' और 'सावयधम्मदोहा' भी उन्होंने रचे थे। उनके निम्नलिखित दोहों का साम्य हिन्दी भाषा से कैसा बैठता है, यह देखिये:—

सुणु दंसण जिय जेण विणु सावय गुण णवि होइ।
जह सामग्गि विवज्जियह सिज्झइ कज्जु न कोइ।

इसे हिन्दी में यूँ कह सकते हैं:—

सुन दर्शन जिय जा विना श्रावक गुण ना होइ,
जिम सामग्रि विवर्जिते सीझे काज न कोइ।

और भी देखिये:—

एहु धम्म जो आयरइ चउ वण्णह मह कोइ।
सो णरणारी भव्वयण सुरइय पव्वह सोइ।

इसे हिन्दी में ऐसे कह सकते हैं:—

एह धर्म जो आचरे चतुर्वर्ण में कोय,
सो नरनारी भव्य जन सुरगति पावे सोय।

श्री देवसेन के रचे हुए ग्रन्थ 'तत्त्वसार' का पता हमें मैनपुरी जैन मंदिर के एक गुटका में लगा है। उसका नमूना भी देखिये:—

सो ऊण तच्चसारं, रइयं मुणिणाह देवसेणेण ,
जो सद्दिठ्ठी भावइ, सो पावइ सासयं सोक्खं ।

इन उल्लेखों से हिन्दी भाषा का सादृश्य अपभ्रंश प्राकृत से स्पष्ट है, किन्तु सादृश्य दिखला कर ही संतोष धारण कर लेना हमें अभीष्ट नहीं है, बल्कि अपभ्रंश भाषा की रचनाओं से शताब्दि प्रति शताब्दि के उद्धरण उपस्थित करके हम हिन्दी के वर्तमान रूप के आविर्भाव का विकासक्रम स्पष्ट कर देना चाहते हैं । अतएव निम्नलिखित पंक्तियों में प्रत्येक शताब्दि के साहित्योद्धरण उपस्थित किये जाते हैं। पहले ही दसवीं शताब्दि के उद्धरण मुनि रामसिंहजी के रचे हुए 'पाहुड दोहा' ग्रन्थ (वि० सं० १०००) से देखिये:—

मूढ़ा देह म रज्जियइ देह ण अप्पा होइ,
देहहिं भिण्णउ णाणमउ सो तुहुँ अप्पा जोइ ।

इसको हिन्दी में ऐसे पढा जा सकता है:—

मूढ़ देह में रंजित होते, देह न आत्मा होय ,
देह से भिन्न ज्ञानमय, सो तू आत्मा जोय ।

एक दोहा और पढ़िये:—

तिहुयणि दीसइ देउ जिण, जिणवरि तिहुवणु एउ ,
जिणवरि दीसइ सयलु जगु को वि ण किज्जइ भेउ ।

हिन्दी में इसका यह रूप होगा:—

त्रिभुवन में दीखे देव जिनवर में त्रिभुवन एह ,
जिनवर दीखे सकल जग कोई न करिये भेद ।

महाकवि धवल भी दसवीं शताब्दि के विद्वान् हैं। उनका रचा हुआ १८००० श्लोक प्रमाण 'हरिवंशपुराण' कारंजा से उपलब्ध हुआ है। उसमें भ० अरिष्टनेमि, भ० महावीर और महाभारत की कथा वर्णित है। कवि की भाषा का नमूना भरतक्षेत्रवर्ती विदेह देश के इस वर्णन में देखिये:—

जंबूदीवहिं सोहणु असेसु, इह भरत खेत्तिणं सुरणिवेसु।
धर हरिहिं सरिहिं सुरउववणेहिं, आसिहि महिसिहि पल्गोहणेहि।
गामिहि गोट्ठिहि कोट्टहि पुरेहि, बहु विहसायहि कमलायरेहि,

अर्थात् इस जम्बूद्वीप में शोभायमान, सुरलोक के समान भरतक्षेत्र है। उसमें पर्वत, नदी, देवोपवन, आशिखि, महिषी, गोधन, गाँव, गोष्टि, कोट, पुर व अनेक विकसित कमलाकारों से सुसज्जित भुवनप्रसिद्ध विदेह देश है।

इस शताब्दि के कवि पद्मदेव अपने 'पासणाह चरिउ' में इस भाषा को देशी भाषा कहते हैं:—

"वायरणु देखि सद्दत्थ गाढ छंदालंकार विसाल पाढ।
ससमय-परसमय वियारसहिय, अवसद्दवाव दूरेण-रहिय॥"

ग्यारहवीं शताब्दि के साहित्यकारों में महाकवि पुष्पदंत महान् हैं। उनके रचे हुए 'महापुराण' 'यशोधरचरित्र' और 'नागकुमार-चरित्र' प्रकाश में आ चुके हैं। अपभ्रंश भाषा साहित्य के ये महाकाव्य हैं। कवि की रचनाशैली और भाषा का नमूना इस छंद में देखिये:—

णंदउ सम्मइ सासणु सम्मइ, णंदउ पय सुहणंदणु णरवइ।
चिंतिउ चिंतिउ वरिस उपाउसु, नंदउ णंणु होउ दीहाउसु॥

णंणु हो संभवंतु वुपवित्तइं, णिम्मल दंसणणाण चरितइं।
णंण होउ उप्पंच कल्लाणइ, रोयसोय खयकरण विहाणइं॥

महाकवि पुष्पदन्त ने अपना 'नागकुमारचरित्र' णंण नामक महानुभाव के लिये रचा था। उपर्युक्त छंद कवि ने उनको ही लक्ष्य करके लिखे हैं। हिन्दी में हम उनको इस प्रकार पढ़ सकते हैं—

आनन्दो सम्यक् शासन सन्मति, आनन्दो प्रजा सुख नांदो नरपति।
चिन्ते चिन्ते बरस इक बीता, नांदो णंण होय दीर्घायुष।
णंण को सम्भव हो उपजै, निर्मल दर्शन ज्ञान चरित्रम्।
णंण को होवे पंचकल्याणं, रोग शोक क्षयकरण विधानं।

कवि धनपाल, मुनि श्रीचंद्र आदि कविगण भी ग्यारहवीं शताब्दि के रत्न हैं। श्रीचंद्रमुनि अणिहलपुरनरेश मूलराज प्रथम वि० सं० ९९८ से १०४३ के समकालीन थे। उन्होंने छोटी छोटी रोचक कथाओं से पूर्ण एक कथाकोष रचा था। देखिये इनकी भाषारचना हिन्दी के कितने निकट पहुँचती है:—

पणवेप्पिणु जिण सुवि सुद्धमई, चिंतइ मणि मुणि सिरिच्चन्दु कई।
संसारु असार सव्बु अथिरु, पिय पुत्त मित्त माया तिमिरु।
खणि दीसइ खणि पुणु उस्सरइ, संपय पुणु संपहे अणु हरइ।
जोव्वंणु गिरि वाहिणि वेयगऊ, लायण्णु वण्णु कर सलिल सऊ।
जीविउ जलवुव्वय फेण णिहु, हरिजालु वरज्जु अवज्जु गिहु।

इस कविता को हिन्दी में बताने की आवश्यकता नहीं है। यह तो स्वयं सुबोध है। इसे पुरानी हिन्दी कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। इस ग्रन्थ को तत्कालीन कथासाहित्य का सर्वोपयोगी अंश समझिये।

प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य श्री हेमचन्द्र ने भी अपने 'व्याकरण' ग्रन्थ में अपभ्रंश प्राकृत के छंदों का उल्लेख किया है। उनकी रचना के नमूने देखिये। एक विरहिणी का चित्रण वह क्या खूब करते हैं :—

'एक्कहिं अक्खिहिं सावणु अन्नहिं भद्दवउ।
माहव महिअल-सत्थरि गण्डथले सरउ॥
अङ्गिहिं गिम्ह सुहच्छी-तिलवणि मज्जुसिरु।
तँह मुद्धहें मुह-पङ्कइ आवासिउ सिसिरु॥

इसी प्रकार के शृङ्गार रस पूरक और भी छंद उनकी रचनाओं में मिलते हैं।

बारहवीं शताब्दि में मुनि योगचंद्र हुए थे। उनका रचा हुआ एक ग्रन्थ 'दोहासार' नामक भी है, जिसे 'योगसार' कहते हैं। इस ग्रन्थ की भाषा विल्कुल पुरानी हिन्दी है। देखिये उसके उद्धरण यही वताते हैं:—

अजर अमर गुणगणनिलय जहि अप्पा थिर थाइ,
सो कम्महि ण च वंधयउ संच्चिय पुव्व विलाइ।

अर्थात्

अजर अमर गुण निलय जेहि आतम थिरथाय,
सो कर्म्महि नहिं बंधयइ संचित पूर्व विलाय।

और देखिये:—

अप्प सरूवह जो रमइ छंड़वि सब ववहारु,
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भव पारु।

अर्थात्

आत्म स्वरूपे जो रमै छांड़ि सकल व्यवहार।
सो सम्यक्दृष्टी भवै सहज पाय भव पार।

उपर्युक्त दोनों उदाहरण हिन्दी भाषा की प्राचीनता को एक डेढ़ शताब्दि और बढ़ा देते हैं। हम कह सकते हैं कि ग्यारहवीं शताब्दि में उच्च कोटि की रचनायें पुरानी हिन्दी में रची जाती थीं। समयानुसार आगे चलकर वह पुरानी हिन्दी कैसे कैसे परिवर्तित होती गई, यह भी देखिये।

तेरहवीं शताब्दि की रचनाओं में कवि लक्खण कृत 'अणुवय-रयणपईव' और मुनि यशःकीर्तिप्रणीत 'जगत्सुंदरीप्रयोगमाला' उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। पहले में जैन श्रावक के व्रतों का निरूपण है, और दूसरा वैद्यक विषय का सर्वोपयोगी ग्रन्थ है। इन दोनों ग्रन्थों की भाषा का दिग्दर्शन कीजिये:—

> इह जउणा णइ उत्तर तडत्थ, मह णयरि रायवड्डिव पसत्थ।
> धण कण कंचण वसा सरि समिद्ध, दाणुणण्यकर जण रिद्धिरिद्ध।
> किम्मीर कम्म णिम्मिय खाण, सट्टल सतोरण विविह वण्ण।
> पंडुय पायारूण्णइ समेय, जहि सहहिं णिरंतर सिरिनिकेय।

इसे हिन्दी में इस प्रकार पढ़ सकते हैं:—

इस जमुना नदि के उत्तर तट पै, महा नगर रावड्डिय है प्रशस्त।
धन कन कंचन वन सरित् समृद्ध, दान दिये कर उच्च किये जन ऋद्धिवद्ध।
पंचरंग कर्म निर्मित रमणीक, सतोरण स-अट्ट विविध वर्णीक।
पांडु उच्च प्राकार समेत, जहँ शोभें निरंतर श्री निकेत।

'जगत्सुंदरीप्रयोगमाला' की भाषा का भी नमूना देखिये, जो १३वीं शताब्दि के उत्तरार्ध की रचना बताई जाती है:—

> णमिऊण परम भत्तीए सज्जणें विमल सुन्दर सहावे,
> जे णिग्गुणे वि कव्वे इणिति दोसा ण जपन्ति।

अर्थात्:—

नमस्कार परम भक्ति से सज्जनों को, जो विमल सुन्दर स्वभाव के।
यद्यपि निर्गुण यह काव्य है, तो भी दोष न देखें वे।

और देखिये:—

णायर पच्छा तह दाडिमं च मगहाए संजुत्तं,
भागुत्तरेण पीयं पणासणं गहणि रोयस्स।

अर्थात्:—

नागर पत्था व दाडिम भी मगहा से संयुक्त,
भागुत्तर जो पीजिये नाशे गृहणी रोग।

श्री विनयचन्द्र कृत 'उवएसमाला-कहाणय-छप्पय' भी इस शताब्दि की उल्लेखनीय रचना है। यह छप्पय छंद में रची गई है, जिसका प्रयोग हिन्दी काव्य में विशेष हुआ है। इसका अन्तिम छप्पय निम्न प्रकार है:—

इणि परि सिरि उवएसमाल सु रसाल कहाणय,
तव संजम संतोस विणय विज्जाइ पहाणय।
सावय सम्भरणत्थ अत्थपय छप्पय छन्दिहिं,
रयणसिंह सूरीस सीस पभणइ आणंदिहिं।
अरिहंत आण अणुदिण उदय, धम्ममूल मत्थइ हउं।
भो भविय भत्तिसत्तिहिं सहल सयल लच्छि लीला लहउ।

चौदहवीं शताब्दि के अनेक ग्रन्थ मिलते हैं, परन्तु यहाँ पर दो तीन ग्रन्थों के उद्धरण देना पर्याप्त है। पहले कविवर विबुध श्रीधर के रचे हुए 'वड्ढमाणचरिउ' को लीजिये। इनके रचे हुए भविष्यदत्तकथा, चन्द्रप्रभचरित, शान्तिजिनचरित और श्रुतावतार ग्रन्थ भी हैं। 'वड्ढमाणचरिउ' की भाषा का नमूना इस प्रकार है:—

जय सुहय सुहय रिउ विसहणाह, जय अजिव अजिव सासण सणाह।
जय सम्भव सम्भव हर पहाण, जय णंदण णंदण पत्तणाण।

हिन्दी में इसे यूँ पढ़ सकते हैं :—

जय शोभे सुभग ऋषि वृषभनाथ, जय अजित अजित शासन सनाथ।
जय सम्भव सम्भव हर प्रधान, जय नन्दन नन्दित प्राप्त ज्ञान।

इस चरित्र के रचे जाने का प्रसंग वर्णन करते हुए कवि लिखते हैं :—

इक्कहिं दिणि णरवर णंदणेण, सोमा जणणी आणंदणेण।
जिनचरणकमल इन्दिंदिरेण, णिम्मलयर गुणमणिमंदिरेण।

अर्थात्

एक दिन णरवर नन्दन ने, जो सोमा जननी का आनन्द है।
वह जिनचरणकमल भ्रमर है, औ निर्मल गुणमणि मंदिर है।

संवत् १३७१ में शत्रुञ्जयतीर्थ के उद्धारक समराशाह का रास श्री अम्बदेव ने रचा था। इस 'संघपति समरारास' की भाषा में राजस्थानी भाषा के शब्द अधिक दिखाई देते हैं :—

वाजिय सङ्ख असङ्ख नादि काहल दुडुदुडिया,
घोड़े चडइ सल्लारसार राउत सिंगडिया।
तउ देवालउ जो त्रिवेगि घाघरि रवु झमकइ,
समवि सम नवि गणइ कोई नवि वारिउ थक्कइ।
सिजवाला घर धडहडइ वाहिणि बहुवेगि,
धरणि धणक्कइ रजु उडए नवि सूझइ मागो।
हय हींसह आरसइ करइ वेगि वहइ वहल्ल,
सादकिया धहरइ अवरु नवि देई कुछ।

इसी समय के श्वेताम्बर जैनाचार्य मेरुतुङ्गविरचित संस्कृत ग्रन्थ 'प्रबन्धचिन्तामणि' में कुछ दोहे यत्र तत्र दिये हुए हैं, जो अपभ्रंश-प्राकृतभाषा के हैं और हिन्दी जैसे जान पड़ते हैं। उनमें से कुछ को पण्डित नाथूरामजी प्रेमी ने निम्न प्रकार अपने 'हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास' में उद्धृत किया है—

जा मति पाछइ संपजइ, सा मति पहिलो होइ,
मुंजु भणइ मुणालवइ, विघन न वेढइ कोइ।
जह यहु रावणु जाइयो, दहमुहु इक्कु सरीरु।
जननि वियंभी चिन्तवइ, कवन पियावइ खीरु।
मुंजु भणइ मुणालवइ, जुव्वण गयउ न झूरि।
जइ सक्कर सयखंड थिय, तोइ स मीठी चूरि।

इन पद्यों को समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती, इसलिए उनको पुरानी हिन्दी कहना अनुचित नहीं है।

पन्द्रहवीं शताब्दि के ऐसे कई ग्रन्थ मिलते हैं, जिनकी भाषा को हम पुरानी हिन्दी कह सकते हैं। प्रेमीजी ने 'गौतमरासा' 'ज्ञानपञ्चमी चउपई' और 'धर्मदत्तचरित्र' इसी श्रेणी के बताये हैं और उनके उद्धरण भी दिये हैं। उदाहरण के रूप में उनके निम्नलिखित पद्य देखिये—

वीर जिणेसर चरणकमल कमलाकयवासो,
पणमवि पभणिसु सामि साल गोयमगुरुरासो।

× × × ×

जिणवर सासणि आछइ सारु, जासु न लब्भइ अन्त अपारु,
पढहु गुणहु पूजहु निसुनेहु, सियपंचमिफलु कहियउ एहु।

कवि नरसेनरचित 'सिद्धचक्र, श्रीपालकथा' भी संभवतः पन्द्रहवीं शताब्दि की रचना है। उसकी एक प्रति हमारे संग्रह में है, जो संवत् १५५८ की लिपि की हुई है। अतः नरसेनजी का समय १५वीं शताब्दि का अन्तिम पाद होना संभव है—साठ सत्तर वर्ष में उनकी रचनायें प्रचार में आ गई होंगी। उनकी भाषा प्रायः पुरानी हिन्दी से मिलती हुई है—वह उस समय की देसी भाषा ही है। उनकी रचनाशैली के उदाहरण देखिये—

'सिद्धचक्क विहि रिद्धिय, गुणह समिद्धिय, पणवेप्पिणु सिद्धसुणीसरहो।
पुणु अरकमिणिम्मल, भवियह मंगल, सिद्धि महापुर सामीय हो॥'

× × × ×

जिणवयणउ विणिग्गय सारी, पणविव सरसइ देवि भडारी।
सुकइ करतु कव्वु रसवंतउ, जसु पसाइ बुहयणु रंजतउ।

इस कथाग्रन्थ में श्रीपाल और मैनासुन्दरी का चरित्र वर्णित है। मैनासुन्दरी दिगम्बर जैन मुनि के पास पढ़ने गई है और वहाँ गुरु महाराज ने उसे जो शिक्षा दी है, उसे पाठक अवलोकन करें—

'पाठणह णिमित्त गुणसंजुत्त, पढम सम्मपिय दियंबरि हो।
जिणजिणय पुरंदरि, मयणासुन्दरि, सामापुसिय मुणिवर हो।
सा जेठ कन्न पुन्नु पढय केम्म, बुहयण विणउ तरु देइ जेम।
पुणु लहुय कुयरिणि पाणकिहं, पण वारु विज्जाइउह पवरुजिहं।
वायरणु-छंदु-णाडउ-मुणिउ, णिघंटु-तक्कु-लक्खण सुणिउ।
पुणु अमरहु सुलंकार सोहु, आययु जोइसु बूझिउग्गखोहु।
जाणीय वहत्तर कला पहाण, चउरासी खंडह तह विणाण।
पुणु गाह-दोह-छप्पयं सरूव, जाणीय चउरासी बंध तुय।

छत्तीस राय सत्त सिर ठाउ, पण सद्दह चउसठि हत्थ भाउ ।
पुणु गीय णत्त पाडगइ कव्व, परियाणीय सत्थ पुराण सव्व ।-
छहभासा छह दंसण णियाणि, छाणव वाल हीय पाखंड जाणि ।
सामुद्दियलक्खणु मुणइ सोज्जु, ते पढ़ीय गुणीय चउदह विविज्जु ।
भेसह ऊसह गण फुरइ ताहिं, अंगुल अंगुल छाणव इचाहि ।
बुज्झइ पहाउ बहु देस भास, अठारह लिवि जाणीयाणि जास ।
णवरस चउ वम्महं मुणइ भेय, जिणसमइ लहीय चारिउ णिउइयं ।
रइ रहसु काम सत्थुजि मुणेइ, पुणु कागरुदुत्ताहि को जिणेइ ।
रक्खाणइ पढ़ीय सु मुणि हि पासु, अंठाणव इहि जीवह समासु ।
ए सयल सत्थ परिणइय तासु, समाहिगुत्त मुणिवरह पासु ।,

इस उद्धरण की भाषा इतनी सुगम है कि जरा ध्यान देने से उसका भाव विज्ञ पाठक समझ सकते हैं। खास बात तो इसमें वर्णित विद्याओं और कलाओं की महत्ता है, जो उस समय एक शिष्ट राजकन्या को पढ़ना आवश्यक थी। संस्कृतभाषा के अतिरिक्त देशीभाषा (पुरानी हिन्दी) के तीन मुख्य छंदों—गाथा, दोहा और छप्पय का ज्ञान अलग से कराया जाता था। छै भाषाएँ और अठारह प्रकार की लिपियाँ सिखाईं जाती थीं। छै भाषाओं के नामोल्लेख नहीं हैं। खेद है कि कवि ने अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। प्रेमीजी ने इनकी एक दूसरी रचना 'चन्द्रप्रभ-पुराण' का भी उल्लेख किया है।

सोलहवीं शताब्दि की रचनाओं में 'ललितांगचरित्र', 'सारसिखामनरास', 'यशोधरचरित्र', 'कृष्णचरित्र' और 'रामसीताचरित्र' का उल्लेख किया जाता है। किन्तु यह पुरानी हिन्दी की रचनायें हैं। इस समय का कवि महाचन्द्र का रचा हुआ 'शान्ति-

नाथचरित्र' (वि० सं० १५८७) अपभ्रंश प्राकृत में है, परन्तु फिर भी उसकी भाषा दुरूह नहीं है । यथा—

इह जोयणिपुरु पुरवरहं सारु, जहु वंणणि इह सक्कु वि असारु ।

कवि राजमल्ल का 'पिंगलशास्त्र' भी इसी समय की रचना है। वह तत्कालीन हिन्दी काव्यधारा और भाषाशैली का दिग्दर्शन कराने के लिए बड़े महत्त्व का ग्रन्थ है। कवि ने उसे नागोर के कोट्यधीश धनकुबेर राजा भारमल्ल के लिए रचा था। राजा भारमल्ल की प्रशंसा में कवि ने जो पद्य लिखे हैं, उनमें से कतिपय यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

स्वाति बुंद सुरवर्ष निरंतर, संपुट सीपि धमो उदरंतर ।
जम्मो मुक्ताहल भारहमल, कंठाभरण सिरी अवलोवल ।

अर्थात् सुरकृत वर्षा की स्वातिबूँद को पाकर धर्मों के उदररूपी सीपसंपुट में भारमल्लरूपी मुक्ताफल उत्पन्न हुआ और वह श्रीमाला का कंठाभरण बना। यह कैसी सुन्दर कल्पना है !

निम्नलिखित छप्पय छंद में राजा भारमल्ल के दैनिक व्यय का लेखा कवि ने बताया है, वह देखिये—

सवालक्ख उग्गवइ भानु तह ज्ञानु गणिज्जइ,
टंका सहस पचास रोज जे करहिं मसक्कति ।
टंका सहस पचीस सुतनसुत खरचु दिन प्रति,
सिरिमालवंस संघाधिपति बहुत बडे सुनियत श्रवण,
कुलतारण भारहमल्ल सम कौन बढउ चंढहिं कवण ।

इस पद्य का अर्थ सुगम है। इससे भारमल्ल का वैभव स्पष्ट है। उनका प्रभाव भी बहुत बढ़ा-चढ़ा था। अकबर बादशाह का

पुत्र राजकुमार (युवराज) भी उनके दरबार में मिलने के लिए आकर प्रतीक्षा करता था—

वड़भागी घर लच्छि बहु, करुणामय दिवदान,
नहिं कोउ वसुधावधि वणिक भारहमल्ल समान।
ठाढ़े तो दरबार राजकुमर वसुधाधिपति,
लीजे न इक जुहारु भारमल्ल सिरिमाल कुल।

इस अपूर्व ग्रन्थ का पता श्रीमान् जुगलकिशोरजी मुख्तार को नया मन्दिर दिल्ली के भण्डार का निरीक्षण करते हुए चला था। इस ग्रन्थ में संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत और हिन्दी भाषाओं के छंदःशास्त्रीय नियम दिये हुए हैं, और ऐसे छंदों के नमूने दिये हैं जो अपभ्रंश, प्राकृत और पुरानी हिन्दी के मिश्ररूप में हैं। सचमुच यह ग्रन्थ ऐसा अपूर्व है कि इसका प्रकाशन भाषाज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण है। किसी प्रकाशक को इसे जल्दी प्रकाशित करना चाहिये।

सत्रहवीं शताब्दि में तो उच्चकोटि की हिन्दी रचनायें रची जाने लगी थीं, किन्तु उस समय तक पुरानी अपभ्रंश भाषामिश्रित हिन्दी में रचना करने का मोह जनता से उठा नहीं था। इस समय से उन्नीसवीं शताब्दि तक ऐसी मिश्रित भाषा की रचनायें मिलती हैं। पाठकों के अवलोकनार्थ हम उनके कतिपय उदाहरण यहाँ उपस्थित करते हैं।

हमारे संग्रह में सत्रहवीं शताब्दि का लिखा हुआ एक गुटका है, जिसे ब्र० ज्ञानसागर ने ब्र० मतिसागर के पठनार्थ लिखा था। उसमें एक रचना 'चौवीस तीर्थंकरों का गीत' नामक है। उसकी भाषा पुरानी हिन्दी है। देखिये—

सयल जिणेसर, प्रणमोपाय, सरस्वति सामण धो मति माय,
हीयडें समरु श्री गुरु नाम, जिम मनि वंछित सीझइ काम।

× × × ×

मिथिलानयरी महिमा घणी, राजा कुम्भ तात तेह तणी।
प्रभावति राणि तुं पुत्र सुनाथ, कलसलंछण प्रणमुं मल्लिनाथ।

× × × ×

इन्दु वाणारस नयर प्रमाण, एह संवछर संख्या जाणि,
तपगछ गायक विभासण भान, श्रीहेमविमलसूरि जुगप्रधान।
पूज्य सिरोमणि पण्डितराय, साध विजय गिरुवा गुण गाय।
कमलसाधु जयवन्त मुणींद, ता सीसउ भणइ अणन्द।

यह किन्हीं कवि आनन्द द्वारा रची गई है। इसमें राजस्थानी भाषा के शब्दों का प्रयोग उन्हें राजस्थान से सम्बन्धित प्रगट करता है।

दिगम्बर जैन बड़ा मंदिर मैनपुरी के शास्त्र-भंडार में एक गुटका संवत् १८१७ का लिपि किया हुआ है। उसमें एक कृति 'मालारोहण' नामक है। यह जिन मंदिर के द्वार पर माला (वंदनवार) बाँधते हुए पढ़ना चाहिये। यह एक आध्यात्मिक रचना है। नमूना देखिये—

णमिव जिणवर सिद्ध आइरिय उज्झाइय पयजुयल,
णमिवि साहु वज्झोव वछलउव्वाहवि भव्वयणि कहमि, माल सुन्दर समुज्ज्वल,
विजयराय हं कुशललोया हं, कमरकउ मुणिवर हं।
धम्मविद्धि अणवरउ भव्वउ हं, जिणइंदह पात्ररकउ।
सन्ति पुण्ठे जिणकरउ सव्वहं, माल पढन्त सुणन्तय हं।
जं वट्टइ परिऊसु, उवणउ मंगल वीर तहिं जिण यन्दहु सविसेसु।

यह शायद किन्हीं विजयराय द्वारा रची गई है। मैनपुरी के उपर्युल्लिखित शास्त्र-भंडार में एक अन्य गुटका सं० १६८० का लिखा हुआ है। इसमें देवसेन-कृत 'तत्त्वसार' मुनि योगचन्द्र का 'योगसार' एवं ढाढसीगाथायें, टंडाणारास आदि रचनायें लिखी हुई हैं। इनमें से पहले दो ग्रन्थ तो १० वीं, ११ वीं शताब्दि की रचनायें हैं। अवशेष १६ वीं, १७ वीं शताब्दि की रचनायें हैं। उनका नमूना देखिये—

तूटंति पलालहरं, माणुसजम्मम . पाणियं दिन्नं।
जीवा जे हणणाया, णाऊण ण रक्खिया जेहिं।
वियलिंदिय पंचेंदिय, समणा अमणा य पज्जपज्जन्ता।
थावर बायर सुहुमा, मणवयकाएण रक्खिव्वा।
जो जाणइ अरहन्तो, दव्वस्स गुणत्थ पज्जयत्तेहि।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खुभु जाइ तस्स लयं।

ढाढसीगाथायें ३८.

× × × ×

तूं स्याणा तूं स्याणा जियणे तूं स्याणा वे।
दंसणु णाणु चरणु अप्पणु गुण क्यों तजि हुवा अयाणा वे।
मोह मिथ्यात पडिड नित, परवसि चहुं गति मांहि भमाणा वे।
नरकगतिहिं दुख छेदणु, भेदणु ताडण ताप सहाणा वे।
धम्म सुकल धरि ध्यानु अनूपम, लहि निजु केवल णाणा वे
जपति दास भगवति पावहु, सासउ सुहु निव्वाणा वे।

इन ही कवि भगवतीदास की रची हुई और भी कृतियाँ इस गुटके में दी हुई हैं, जिनमें से कुछ की भाषा तो बिल्कुल हिन्दी सी है, जैसे—'नेमि जिनिंद नमौं धरि भाउ, सुमति सुगति दाता सिवराउ'।

इसी गुटका में मुनि सकलकीर्तिविरचित 'सोलह कारण-व्रतरास' भी दिया है जिसकी रचना इस प्रकार है—

बीर जिणेसर वसास करी गोयम पणमेसउ,
सोलह कारण वरत सार तहि रासु करेसउ।
जंबू दीवह भारत खेत मगध छइ देस।
राजगृह छइ नगर हेमप्रभ राज धनेस।

× × ×

एकचित्तु जो व्रत करे नरु अहवा नारी,
तीर्थंकर पद सो लहइ जो समकित धारी।
सकलकीरति मुनि रासु कियउ ए सोलहकारण,
पढहिं गुणहिं जे संख लहि तिह सिवसुहकारण।

इसी गुटका में 'जीव-सुलक्षण-संन्यास-मरण' भी लिखा हुआ है, जो इस प्रकार है—

जीव सुलक्षणा हो, जिणवर भासित एम।
परिग्रहा पाहुणा हो विहाडइ सुरधरमु जेम।
विहंडतु सुरधणु जेम परिगहु, कहा तिस सिउ रचइ।
नित ब्रह्मलोक विचारि हियडत दुष्ट कम्महं वंचई।
पिय पुत्त बंधुव सयलु अवधू रूप रंगण देखणा।
संवेग सुरति संभालि थिरुमति, सुणउ जीव सुलक्खणा।
हंसा दुर्लभा हो, मुकति सरोवर तोरि।
इन्दिय वाहिया हो पीवत विषयहँ नीर।
अति विषयनीर पियास लागो, विरह व्यापति आकुल्यो।
बारह अनुप्रेक्षा सुरति छंडिय, एम भूलो वावलो।
अब होउ एतउ कहउ तेतउ, सुद्धवंसह जम्मणु।
संन्यास मरणउ अवर सरणउ परम रयणमउ गुणु।

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि १६ वीं से १८ वीं शताब्दि तक के समय में पुरानी हिन्दी अपने नये रूप में ढल रही थी, उसमें से अपभ्रंश के शब्द और मुहावरे हटाये जा रहे थे, कविगण दोनों तरह की रचनायें रचते थे, जैसे कवि भगवतीदास के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है। कवि हरिचन्दजी ने अपभ्रंश हिन्दी मिश्रित भाषा के साथ ही नये रूप में ढली पुरानी हिन्दी में भी रचनायें रची थीं। उनकी दो रचनायें हमारे संग्रह के संवत् १९३४ के लिखे हुए गुटका में सुरक्षित हैं, जिनके नाम (१) पंचकल्याण के प्राकृत छंद और (२) पंचकल्याण महोत्सव हैं। इन दोनों के नमूने क्रमशः देखिये—

१. शक्क चक्क मणि मुकट बसु, चुंबित चरण जिनेश।
गब्भादिक कल्लाण पुण, वण्णउ भक्ति विशेष।
गब्भ जम्म तप णाण पुण, महा अमिय कल्लाण।
चउविय शक्का आयकिय, मणवक्काय महाण।
सौधर्म्मिदास अवधिधारा, कल्लाण गब्भ जिण अवधारा।
णयरी रचणा अग्गादिण्णी, कुव्वेर सिक्ख सिर धर लिण्णी।

कल्लाणक णिव्वाण यह थिर सब पद्दि दातार।
दीजे जण हरिचन्द कौ लीजे अपणे सार।

२. मंगलनायक वन्दि के, मंगल पंच प्रकार।
वर मंगल मुझ दीजिये, मंगल वरणन सार।

मो मति अति हीना, नहीं प्रवीना, जिनगुण महा महंत।
अति भक्तिभाव ते, हिये चावते, नहिं यश हेत कहंत।
सबके माननको, गुण जाननको, मो मन सदा रहंत।
जिनधर्म प्रभावन, भव भव पावन, जण हरिचंद चहंत।

तीन तीन वसु चंद्र ये, संवत्सरके अङ्क।
जेष्ठ सुक्ल सप्तम्मि सुभग, पूरन पढ़ौ निसंक।

इस प्रकार पूर्वोल्लिखित काव्य के उद्धरणों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि किस प्रकार कालक्रम से अपभ्रंश-प्राकृतभाषा परिवर्तित होती हुई हिन्दी के प्राचीन रूप को प्राप्त हुई थी। जैन-साहित्य में हिन्दी की उत्पत्ति का इतिहास इस प्रकार सुन्दर रूप में सुरक्षित है। अब विज्ञ पाठक यह समझ गये होंगे कि किस तरह हिन्दीभाषा अपने प्राचीन और अर्वाचीन रूप में अवतरित हुई थी।

अब यहाँ पर यह देखना आवश्यक है कि हिन्दी जैन-साहित्य का काल-विभाग किस रूप में किया जा सकता है। वैसे तो समूचा जैन-साहित्य दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों की अपेक्षा दो भागों में बँटा हुआ है, परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय की हिन्दी रचनायें अत्यधिक नहीं हैं। इसलिए हिन्दी जैन-साहित्य में वह भेदविवक्षा करना आवश्यक नहीं है। हिन्दी जैसी राष्ट्रभाषा से सम्बन्धित साहित्य में ऐसा कोई भेद शोभता भी नहीं है। हाँ, समय की अपेक्षा से समूचा हिन्दी जैन-साहित्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। इस विभाजनक्रम में भाषा का रूप भी एक कारण है। इन दोनों भागों का हम (१) पूर्वयुगभाग, (२) और नवयुगभाग नाम से उल्लेख करेंगे। पूर्वयुगभाग में अपभ्रंश-प्राकृतभाषा और उससे उद्भूत पुरानी हिन्दीभाषा की रचनाओं का समावेश होता है और नवयुगभाग में खड़ी बोली में रची गई आधुनिक शैली की कृतियाँ आती हैं। पूर्वयुग का निम्नलिखित काल-विभाग करना उपयुक्त है—

१. आदिकाल—११ वीं शताब्दि से १४ वीं शताब्दि तक।
२. मध्यकाल—१५ वीं शताब्दि से १७ वीं शताब्दि तक।
३. परिवर्तित मिश्रभाषाकाल—१८ वीं शताब्दि से १९ वीं शताब्दि के प्रारम्भ तक।

उन्नीसवीं शताब्दि के पूर्व मध्यकाल से नवयुगकाल प्रारम्भ हो जाता है और वह अब भी वर्तमान है। नवीन युग की साहित्यिक भाषा पर विचार करते हुए उसके काल-विभाग पर यथावसर प्रकाश डाला जावेगा।

आदिकाल का साहित्य और गद्य भाषा।

(११ वीं से १४ वीं शताब्दि)

पूर्वयुग की हिन्दी का आदिकाल दो प्रकार की रचनाओं से ओत-प्रोत है। जिसे आज हम 'हिन्दी' कहते हैं, वह पहले 'देश-भाषा' अथवा 'भाषा' नाम से प्रसिद्ध थी। 'भाषा-भक्तामर' कहने से आज भी एक जैनी समझ जाता है कि कहने का मतलब हिन्दी-भाषा में रचे हुए 'भक्तामर' से है। आदिकाल में उस भाषा की रचनायें उतनी अधिक नहीं मिलतीं, जितनी कि अपभ्रंश-भाषा की कृतियाँ उपलब्ध हैं। अत एव इस काल को यदि 'अपभ्रंश-भाषा-काल' कहा जाय तो अनुपयुक्त नहीं है। अपभ्रंश प्राकृतभाषा से संक्रान्ति करके ही पुरानी हिन्दी कहिये देशी भाषा अस्तित्व में आ रही थी। उस पुराने देशी भाषा साहित्य के मुहावरे और छन्द परवर्ती हिन्दी में देखने को मिलते हैं—वह अपभ्रंश साहित्य से हिन्दी में आये, यह स्पष्ट है। उनके कुछ उदाहरण देखिये—

(१) वरु जलणु वरु सेविउ वणवासु।
(२) हउं गोरउ हउं सामलउ।
(३) जेहा पाणहं झुंपडा (जैसा प्राणों का झोपड़ा)
(४) छोपु अछोपु (छूत अछूत)
(५) देहा देवलि सिउ वसइ (देह देवल में शिव बसे)
(६) मंतुण तंतुण धेउण धारणु !
(७) सा पुत्तहो णेहें दिणि जि दिणे; गुड़ सक्कर लड्डुव लेवि खणे !
(वह पुत्र नेह से दिनोंदिन गुड़ सक्कर के लड्डू लाती)

(८) धंधइ पड़ियो सयल जग (धंधे पड़ा सकल जग)
(९) भले भए जि तुरंतइ ।
(१०) किवाड़इ छुत्तउ वीरु उग्घाडि तुरंतउ ।
(११) भिंणउ कामसरेहिं अयाणउ ।
(अज्ञानी कामशर से भिंद गया)
(१२) सूरु ण भूलइ हथियारु ।
(१३) पाइ लागि कर जोड़ि मनावइ ।
(१४) खेलहु पवंचु (खेलो प्रपंच)
(१५) णं अंधं लद्ध वेवि णयण (मानो अन्धे को दो नयन मिले)

इस प्रकार अपभ्रंश-भाषा से परिवर्तित होकर हिन्दी बनती आ रही थी। पाठक, इस परिवर्तनमय सुधार-संक्रान्ति का दिग्दर्शन पूर्व पृष्ठों में कर चुके हैं।

आदिकाल के अन्तिम पाद में अवश्य ही भाषा-रचनाओं का अपना स्थान हो गया था, जो मध्यकाल में जाकर पूर्ण विकसित हुई थीं। भाषा के इस निर्माण में देश की तत्कालीन परिस्थिति का प्रभाव भी कारण था। यह समय मुसलमानों के आक्रमण का था। राजपूत लोग अपने अपने कुलाभिमान और वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा में मस्त थे। उन्हें अपने व्यक्तिगत गौरव की रक्षा का बड़ा ध्यान था, देश के गौरव की परवाह किसी को नहीं थी। राजपूतों की शक्ति पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता में क्षीण हो रही थी। पौराणिक हिन्दूधर्म के प्रचार ने जैनधर्म को हतप्रभ बना दिया था—राजपूत लोग जैनधर्म से विमुख हो गये थे—अहिंसा देवी की सात्त्विक उपासना का स्थान हिंसक भवानी ने ले लिया था। मांस और मदिरा का व्यवहार बढ़ गया था। देश की

शान्ति भङ्ग हो गई थी। विद्वान् निश्चिन्त होकर सरस्वती देवी की आराधना करने में स्वाधीन नहीं थे। वणिक् निर्विघ्न व्यापार करने और देश को समृद्धिशाली बनाने के लिए तरसते थे। उनको विश्वास न था कि जहाँ वह जमे हैं, वहाँ स्थायी रूप से बने रहेंगे। कदाचित् प्रबल शत्रु का आक्रमण हुआ तो उन्हें रक्षा के लिए अन्यत्र चला जाना पड़ता था। कविवर आशाधर जी और महाकवि बनारसीदास जी के जीवनचरित्र इसके उदाहरण हैं।

पौराणिक हिन्दूधर्म को अपनाकर राजपूत लोग उद्धत और कुलमद के मतवाले बन गये थे। वे विश्वहित और राष्ट्रोन्नति की पुनीत भावनाओं को कुलाभिमान की मादकता में भूल गये थे। प्रत्येक कहता था कि वह सर्वश्रेष्ठ कुल का है—सब लोग उसके महत्त्व को मान्य करें। राजपूतों में परस्पर विवाहसम्बन्ध करते समय कुल की उच्चता और नीचता का बड़ा ध्यान रक्खा जाता था। उनसे बढ़कर यह रोग सब ही जातियों में फैल गया और आजतक भारत में घर किये हुए है। राजकुमारियों के रूप-सौन्दर्य की वार्ता सुनकर राजपूत युवक उनके पीछे पागल हो जाते थे और प्रतिद्वन्द्वी बनकर आपस में जूझने लगते थे। इस दयनीय दशा में देश की सुध लेनेवाले राणा प्रताप अथवा वीर भामाशाह जैसे वीर विरले ही हुए। मुसलमानों के आक्रमणों का मुकाबिला करने में कोई भी सफल न हुआ। भारत की स्वाधीनता राहु-ग्रस्त हो गई! मुसलमान देश में अनेक भागों पर शासनाधिकारी हो गये! उन्होंने अपनी इस्लाम-संस्कृति का प्रचार येन केन प्रकारेण किया। परिणामतः देश में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए।

देश की ऐसी परिस्थिति का प्रभाव साहित्य और भाषा पर भी पड़ा। हिन्दी-साहित्य में शृङ्गाररस के पुट को लिये हुए वीर-रसप्रधान रचनायें रची गईं। इन रचनाओं में कवि अपने आश्रयदाता नरेश की कीर्ति-कौमुदी का विस्तार करने में ही अपना गौरव समझता था। इस तरह उस समय का काव्य एक परिधि में सीमित हो गया था। प्रारंभ में इस प्रकार की रचनायें 'रासा' नाम से पुकारी जाती थीं। किन्तु यह रासा साहित्य तेरहवीं शताब्दि से पहले का नगण्य है। 'खुमानरासा' ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसे नवीं या दशवीं शताब्दि का कह सकते हैं; परन्तु वह मूलरूप में प्राप्त नहीं है। उपलब्ध प्रतियों में महाराणा प्रताप तक का वर्णन मिलता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें प्रक्षिप्त भाग कितना है? वास्तव में "पृथ्वीराजरासो" से ही रासा-साहित्य का प्रारंभ होता है, जिसे कवि चँदवरदाई ने संवत् १२२५—१२४९ के मध्य कभी रचा था।

हिन्दी जैन-साहित्य पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो वहाँ भी १३ वीं शताब्दि से पहले का कोई 'रासा' ग्रन्थ देखने को नहीं मिलता। यद्यपि यह अवश्य है कि अभी जैन भंडारों की ठीक से व्यवस्थित शोध-खोज नहीं हुई है और यह संभावना है कि उनमें इससे भी प्राचीन रासा-ग्रन्थ मिल जावे। जो हो, भाषा जैन-साहित्य 'रासाओं' से रिक्त नहीं है। उनकी विशेषता यह है कि कवि ने उन्हें किसी व्यक्तिविशेष की प्रशंसा करने तक सीमित नहीं रक्खा है, बल्कि कविकल्पना की उसमें पूरी उड़ान ली गई है। यद्यपि जैन-रासा खासकर धर्मवार्ता को लेकर रचे गये हैं, परन्तु उनमें यथावसर सब ही रसों का प्रतिपादन हुआ मिलता

है। उनमें अधिकांश चरित्र-ग्रन्थ हैं। वे किसी जैन महापुरुष की आत्मकथा को चित्रित करके मनुष्य को समुदार नीति और विश्वोपकारी धर्म की शिक्षा प्रदान करते हैं। उनका आधार भूतकालीन चरित्र-चित्रण है। उनके द्वारा जैन कविगण समय की प्रगति को प्रोत्साहन देते हैं और भारतीय इतिहास के गौरव को जागृत करते हैं। उदाहरणतः 'जम्बूस्वामीरासा' को लीजिये। जम्बूस्वामी भगवान् महावीर के समकालीन थे। वह केवल ज्ञानियों में अन्तिम थे। गृहस्थावस्था में वह अपने बुद्धि-कौशल और वीरत्व के लिए प्रसिद्ध थे। सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के आज्ञानुसार उन्होंने मगध साम्राज्य के पर्वतीय शत्रु को परास्त करके गौरव प्राप्त किया था। अन्त में भ० महावीर के संघ में दीक्षित होकर उन्होंने तप तपा और मुक्त हुए। इस चरित्र को वर्णित करते हुए कवि सब ही रसों का प्रतिपादन करता है और ऐतिहासिक वार्ता को गाथावद्ध वना देता है। साथ ही वह जनता के समक्ष धार्मिक श्रद्धा का सुदृढ़ और सौम्य दृष्टान्त भी उपस्थित करता है। इस प्रकार जैन-रासा-साहित्य वीरगाथा की कोटि में तो आता ही है; परंतु वह धर्म और इतिहास की भी गाथा है। आदिकाल की वह विशिष्ट रचना है।

पहले यह लिखा जा चुका है कि आदिकाल से ही हिन्दी जैन-साहित्य में (१) अपभ्रंश-भाषा (प्राचीन देशी) और (२) देशी (पुरानी हिन्दी) भाषा में दो प्रकार की रचनायें रची ज़ाती थीं। अपभ्रंश-भाषा की पुस्तकें इस काल में अनेक रची गईं, जिनमें से कुछ का उल्लेख प्रसंगवश पहले किया जा चुका है। वैसे इस काल के अपभ्रंश काव्य-जगत् में महाकवि पुष्पदन्त

का स्थान सर्वोपरि है। प्रसंगवश यहाँ पर अपभ्रंश साहित्य के प्रमुख रत्नों पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

महाकवि पुष्पदन्त काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। केशव उनके पिता और मुग्धा उनकी माता थीं। वे दोनों शिवभक्त थे। उपरान्त वे जैनी हो गये। पुष्पदन्त का शरीर श्याम और कृश था। उनके न घर-द्वार था और न धन-सम्पत्ति, वह अकिञ्चन थे; पर आकिञ्चन्य महाव्रती वह न थे। उनका मन महान् था—हृदय विशाल और उच्च था। वह पहले किन्हीं भैरव अथवा वीरराय नामक राजा के आश्रय में रहे थे; किन्तु कैसे ही वहाँ से रुष्ट होकर मान्यखेट में आ रमे। उस समय मान्यखेट में राष्ट्रकूट-नरेश कृष्ण तृतीय शासनाधिकारी थे। भरत उनके राजमंत्री थे। पुष्पदन्त भरत के आग्रह से उनके 'शुभतुङ्ग-भवन' में रहे थे। भरत के ही अनुरोध से उन्होंने काव्य-रचना की थी। उनका सबसे बड़ा काव्य 'महापुराण' है, जिसको उन्होंने शक संवत् ९६५ में रचकर समाप्त किया था। 'महापुराण' की रचना को कविवर ने अपनी महान् सफलता समझी थी। उन्होंने स्वयं कहा कि "इस रचना में प्राकृत के लक्षण, समस्त नीति, छंद, अलंकार, रस, तत्त्वार्थनिर्णय, सब कुछ आ गया है; यहाँ तक कि जो यहाँ है वह अन्यत्र कहीं नहीं है।" 'नागकुमारचरित्र' और 'यशोधरचरित्र' भी उनकी रचनायें हैं। महाकवि पुष्पदन्त को मानों सरस्वती का वरदान था—उन्होंने काव्य के सब ही अङ्गों का प्रतिपादन अद्भुत आकर्षक ढंग से किया है। उनका शब्दालंकार निम्नलिखित पद्यों में देखने की चीज है—

"ता तम्मि पत्तम्मि तइयम्मि कालम्मि ,
[illegible]

कप्पद्दुमच्छेय-पयणियवियारम्मि ,
ससिबिंब-रविबिंब-धत्थंधयारम्मि ।"

किस प्रकार आकर्षक शब्दों में भगवान् ऋषभदेव के गर्भावतरण समय का वर्णन कवि ने किया है। आगे देखिये, कविवर ने किस खूबी से निम्नलिखित पद्य में सब ही लघु अक्षर और लघु मात्राओं का कितना सुन्दर गुम्फन किया है—

"वसहकरह-खरबरबलहयभरु, हरिखुरदलिय मलियवणतणतरु ।
मयगल-मयजल-पसमिय-रयमधु, दसदिसि मिलिय मणुय कयकलयलु ।
कसझस-मुसल-कुलिस-सरकरयलु, जणवय पयभर पणविय महियलु ।
असिवर-सलिल-पयह-धुय-परिहवु, सतिलय-विलय-वलय-खणखण खु ।"

भरत चक्रवर्ती दिग्विजय को जा रहे हैं। उनकी चतुरंगिणी सेना के चलने से जो स्थिति हुई, देखिए, कवि ने उसका चित्रण कितनी सुंदरता से किया है। इसी प्रकार पुष्पदन्त का अर्थालङ्कार भी अद्वितीय है। उनकी सूक्तियाँ सुंदर और मार्मिक हैं। देखिए, कवि ने 'धर्म' का कितना समुदार स्वरूप निर्दिष्ट किया है—

"पुच्छियउ धम्मु जइवज्जरइ, जो सयलहं जीवह दय करइ ।
जो अलियपयं पहु परिहरइ, जो सच्च सउच्चे रइ करइ ॥"

यति महाराज से भक्त ने पूछा—'धर्म क्या है?' उत्तर में वह बोले—'धर्म वही है जिसमें सब जीवों पर दया की जाय और अलीक वचन का परिहार करके जहाँ सुंदर सत्यसम्भाषण में आनन्द मनाया जाय।'

"वज्जइ अदत्तु णियपियरवणु, जो ण घिवइ परकलत्ते णयणु ।
जो परहणु तिणसमाणु गणइ, जो गुणवंतउ भत्तिए थुणइ ॥"

जहाँ विना दी हुई वस्तु ग्रहण न की जाती हो और जहाँ परस्त्री की ओर आँख उठाकर भी न देखा जाता हो, बल्कि पुरुष अपनी प्रिया में ही संतुष्ट हो, वहाँ धर्म है। जहाँ पराया धन तृण के समान गिना जाता हो और गुणवानों की भक्ति की जाती हो, वहाँ भी धर्म है।

"एयइं धम्महो अंगइं, जो पालइ अविहगइं।
सो जि धम्मु सिरितुंगइ, अण्णु कि धम्म हो सिंगइं॥"

इस प्रकार धर्म के अङ्गों का जो पालन किया जाता है, वही धर्म है। और क्या धर्म के सिर में बड़े सींग लगे होते हैं?

आखिर धर्म्म क्यों पालन किया जावे? इसके उत्तर में कवि-वर कहते हैं:—

"वरजुवइ वत्थ भूषण संपत्ती होइ धम्मेण।"

अर्थात् सुन्दर युवतियाँ और मूल्यमयी वस्त्राभूषण आदि सम्पत्ति धर्म से ही प्राप्त होती है। इसलिए और इस कारण से भी कि—

"धम्मे विणु ण अत्थु साहिज्जइ, तं असक्कु णिद्धम्मु ण जुज्जइ।"

धर्म्म के बिना अर्थ—धन की साधना नहीं हो सकती, अतः आसक्त होकर धर्म किये विना कोई योजना नहीं करनी चाहिये। मानव को इन्द्रिय-वासना में उच्छृङ्खल जीवन नहीं बिताना चाहिये; बल्कि विवाह करके नियमित संयम से रहना चाहिये। इसीलिए कवि बताते हैं कि पुरुष की शोभा सुन्दर ब को पाकर ही है। आगे कवि कहते हैं कि—

"सोहइ माणुसु गुणसंपत्तिए; सोहइ कज्जारंभ-समत्तिए।
सोहइ सुभट सुपोरिसराहए; सोहइ वर बहुयाए धवलच्छिए॥"

जैसे मनुष्य गुण संपत्ति से शोभा पाता है, कार्य का आरंभ उसकी समाप्ति पर अच्छा लगता है और सुभट अपने अच्छे पौरुष से शोभा को प्राप्त होता है, वैसे वर–पुरुष धवलाक्षी अच्छी बहू को पाकर शोभा पाता है। सौन्दर्यलक्ष्मी को पाकर कोई इतरा न जावे, इसलिए कविवर उसे सचेत करने के लिए ही मानो कहते हैं —

"णियकंतिहे ससि-बिंबु वि ढलइ, लायण्णु ण मणुयहं किं गलइ।"

जब चन्द्रमा की कान्ति ढल जाती है, तब भला मनुष्य का लावण्य क्यों न ढलेगा ?

युद्ध और पौरुष कहाँ उपादेय हो सकते हैं, यह भी जरा इन महाकवि के मुख से सुनिये —

"रणु चंगउ दीणपरिग्गहेण, सयंणत्तणु सज्जनगुणगहेण।
पोरिसु सरणाइयरक्खणेण, दुक्खु वि चंगउ सुतवें कएण॥"

दीनजनों की रक्षा के लिए लड़ाई लड़ना अच्छा है, सौजन्य सज्जन पुरुष के गुणग्रहण करने में है, पौरुष शरणागत की रक्षा करने से प्रकट होता है और अच्छा तप तपने में दुःख सहना ठीक है।

पुष्पदन्त के अतिरिक्त अपभ्रंशभाषा साहित्य में उस समय कवि श्रीचन्द्रमुनि का 'कथाकोष' मुनि रामसिंहजी का 'दोहा पाहुड़' और मुनि योगचन्द्र का 'परमात्मप्रकाश' अपने अपने विषय की बेजोड़ रचनायें हैं। इन कृतियों की रचनाशैली का परिचय पहले कराया जा चुका है। 'कथाकोष' साधारण जनता को छोटी-छोटी कथाओं के द्वारा सुन्दर धर्मशिक्षा प्रदान करता

है। शेष दोनों रचनायें अध्यात्म विषय की हैं, जो वेदान्त के प्रेमियों के लिए बड़ी उपयोगी हैं। यहाँ उपयुक्त स्थल नहीं है कि उनके अन्तरङ्गरूप का परिचय कराया जा सके। 'कथाकोष' की एक कथा की थोड़ी-सी बानगी देखिये --

"मगहामंडलपय-सुहयरम्मि , पयपालु राउ पायलि पुरम्मि ।
तत्थेव एक्कु कोसिउ उयारि , निवसइ मायावि गोउर-दुवारि ॥ १ ॥
स कयाइ रायहंसह समीनु , गउ विहरमाणु सुरसरिहे दीवु ।
एक्केण तत्थ कय-सागएण , पुच्छिउ हंसे वयसागएण ॥ २ ॥
भो मित्त, तंसि को कहसु एत्थु , आऊमि पएसहो कहो किमत्थु ।
धयरट्ठ हो वयणु सुणेवि घूउ , भासइ हउँ उत्तम-कुलपसूउ ॥ ३ ॥
कय-सानाणुग्गह-विहि-पयासु , आयहो पहु पुहइमंडलासु ।
वसवत्ति सव्व सामंत-राय , महुं वयणु करंति कयाणुराय ॥ ४ ॥
कीलइ भमंतउ महिपसत्थ , तुम्हइँ निएवि आऊमि एत्थ ।
इय वयणहिं परिऊसिउ मरालु , विणएण पयं पिउमह विसालु ॥ ५ ॥

अर्थात्---"मगध देश के सुखद और रम्य पाटलिपुत्र नामक नगर में प्रतिपाल राजा थे। उसी नगर के गोपुर दरवाजे में एक उजारू और मायावी उल्लू रहता था। वह कदाचित् घूमता हुआ सुरसरि द्वीप के राजहंसों के समीप पहुँच गया। वहाँ एक बूढ़े हंस ने उसका स्वागत कर उससे पूछा, 'हे मित्र! तुम कौन हो और कहाँ से आये हो? इस प्रदेश में किस प्रयोजन से आये हो?' धृतराष्ट्र (हंस) के वचन सुनकर घुग्घू बोला, 'मैं उत्तम कुल-प्रसूत हूँ। मैं पुष्पपुर मंडल से यहाँ आया हूँ। सर्व सामंत और राजा मेरे वशवर्ती हैं और वे अनुराग से मेरे वचनों का पालन करते हैं। क्रीडा के लिए भ्रमण करता हुआ महीपों के साथ मैं यहाँ तुम्हारे प्रदेश में आ निकला हूँ।' घुग्घू के ये वचन सुनकर

उस विशालमति मराल ने विनयपूर्वक उसके पैर पकड़े उपरान्त घुग्घू का मायावी रूप प्रकट हो गया।"

इस तरह की आकर्षक और सरल कथायें इसमें गुम्फित हैं। अन्य अपभ्रंश, प्राकृत भाषा की रचनाओं का उल्लेख करना हमारा उद्देश्य नहीं है। अतः इस काल की हिन्दी रचनाएँ देखिए—

इस काल की रची हुई पुरानी हिन्दी की कृतियों में विशेष उल्लेखनीय कृतियाँ (१) श्रीधर्मसूरिका जम्बूस्वामीरासा, (२) श्री विनयचन्द्रसूरि की 'नेमिनाथ चउपई', और (३) श्री अम्बदेवकृत 'संघपति समरा-रास' इत्यादि हैं। बारहवीं शताब्दि का रचा हुआ मुनि योगचन्द्र का 'दोहासार' भी पुरानी हिन्दी की रचना कही जाय, तो अनुपयुक्त नहीं है। इसी को 'योगसार' कहते हैं। निस्सन्देह वह उस समय की बोलचाल की भाषा में रचा गया था और उसको समझना भी कठिन नहीं है। इसीलिए उसकी गिनती पुरानी हिन्दी की रचनाओं में की जाती है। उसके उद्धरण पहले दिये जा चुके हैं, तो भी पाठकगण, उनका दिग्दर्शन पुनः करिये —

"धंधय पडियो सयल जगि ण वि अप्पाहु मुणंति।
तिह कारण ए जीव फुड्ड ण हु णिव्वाण लहंति॥ ५१॥"

अर्थात्—

धंधे पड़ा सकल जग, नहिं अप्पा मन लाइ।
तिस कारण यह जीव पुन, नहिं निर्वाण लहाइ॥

और देखिये—

"विरला जाणहि तत्तु बुहु विरला णिसुणहि तत्तु।
विरला झायहिं तत्तु जिय विरला धारहि तत्तु॥ ६५॥"

इसमें थोड़ा सा परिवर्तन करके देखिए, आजकल की हिन्दी हो जाती है।

विरला जाने तत्त्व बुध, विरले सुनेंहि तत्त्व।
विरला ध्याये तत्त्व जिय, विरला धारें तत्त्व॥

एक उदाहरण और देखिये--

"इक्क उपज्जइ मरइकुवि दुहु सुहु भुंजइ इक्कु।
णरयह जाइवि इक्क जिय तह णिव्वाणह इक्कु॥ ६८॥"

इसे हिन्दी में यों पढ़िये—

एक उपजता मरता एक, दुख सुख भी भुगते एक।
नरके जावे एक जिय, तथा निर्वाण भी एक॥

पुरानी और नयी हिन्दी में शब्दों की यह विषमता स्वाभाविक है, परंतु मुहावरे दोनों के एक समान हैं। खेद है कि अध्यात्म-रस की इस सुन्दर रचनाके कर्त्ता श्री योगचन्द्रजी के विषय में विशेष कुछ ज्ञात नहीं होता। इतना ही पता चलता है कि वह मुनि थे और अध्यात्मरस के रसिक थे। उन्होंने 'परमात्मप्रकाश', 'निजात्माष्टक' और 'अमृताशीति' नामक ग्रन्थों को भी रचा था।

'श्री जम्बूस्वामीरासा' को महेन्द्रसूरि के शिष्य धर्मसूरि ने सं० १२६६ में रचा था। इस ग्रन्थ के कथानक का परिचय पहले कराया जा चुका है। उसके कुछ और उद्धरण देखिये—

"जंबूदीवि सिरिभरहखित्ति तिहिं नयर पहाणउ।
राजगृह नामेण नयर पहुवी वक्खाणउ॥
राज करइ सेणिय नरिदं नरवरहँ जु सारो।
तासु तणह (अति) बुद्धिवंत मति अभयकुमारो॥"

स्व० दलालजी ने इसकी भाषा को गुजराती अनुमान किया था; परन्तु पं० नाथूरामजी प्रेमी उसे पुरानी हिन्दी मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि—"हमारी समझ में चन्द की भाषा आजकल के हिन्दी जानने वालों के लिए जितनी दुरूह है, यह उससे अधिक दुरूह नहीं है और गुजराती के साथ इसका जितना सादृश्य है उससे कहीं अधिक हिन्दी से है।" अतः इसे हिन्दी कहना चाहिये।

'नेमिनाथ चउपई' चालीस पद्यों का एक छोटा-सा ग्रन्थ है। इसे हम मध्यकाल में रचे गये बारहमासों का पूर्वरूप कह सकते हैं। इसमें श्री नेमिनाथजी बाईसवें तीर्थङ्कर के प्रसंग में राजमतीजी और उनकी सखियों के प्रश्नोत्तर रूप में शृङ्गार और वैराग्य का निरूपण किया गया है। श्री राजुलजी कहती हैं:—

"श्रावणि सरवणि कडुए मेहु, गज्जइ विरहि रिझिज्जइ देहु।
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव, नेमिहि विणु सहि सहियइ केव॥"

इस पद्य में कवि ने 'मेघ' के लिए 'मेहु' शब्द का प्रयोग किया है। यह 'मेहु' शब्द का प्रयोग आज तक प्रचलित है। 'मेह बरसता है'—इस पद का प्रयोग आज कौन नहीं करता? मेह के स्थान पर बादल का प्रयोग कोई नहीं करता। इसी प्रकार 'सहि' शब्द का प्रयोग 'सखि' के लिए करना बिल्कुल आधुनिक है। अब पद्य के भाव को देखिये। राजुल का ब्याह नेमिजी से निश्चित हुआ; परंतु वह पशुओं पर दयार्द्र होकर तोरणद्वार से लौट गये और गिरिनार पर्वत पर जाकर तप तपने लगे। राजुल के लिए उनका वियोग असह्य हुआ। इस 'चौपई' में कवि राजुल के वियोग-विरह को ही चित्रित करते हैं। राजुल कहती हैं कि श्रावण में मेघों की गंभीर गर्जना से विरहाग्नि प्रज्वलित होकर देह को

जलावेगी। बिजली राक्षस की तरह चमकेगी। सखि, भला बता तो नेमि के बिना मैं यह सब कैसे सहन करूँ? इसके उत्तर में सखी कहती है—

'सखी भणइ सामिणि मत झूरि, दुज्जणं तणा मनवंछित पूरि।
गयउ नेमि तउ विनठउ काइ, अछइ अनेरा वरह सयाइ॥"

हे स्वामिनि, मन में दुर्जनों की तरह झूरो मत, बल्कि मनोवाञ्छित कार्य पूरा करो। यदि नेमि चले गये तो क्या बिगड़ गया? और बहुत से वर हैं, जो सुंदर हैं, अनियारे हैं। राजुल कहती हैं कि यह मत कहो, क्योंकि नेमि के समान कोई भी अच्छा वर नहीं है:—

"बोलइ राजुल तउ इह वयणु, नत्थि नेमि वर सम वर-रयणु।
धरइ तेजु गहगण सविताउ, गयणि न उग्गइ दिणयर जाउ॥"

इसी प्रकार के सरस प्रश्नोत्तरों में यह रचना पूर्ण हुई है। हिन्दी जैन साहित्य में प्रेम की रीति का निर्वाह नेमि-राजुल-प्रसंग के द्वारा किया गया है।

संघपतिसमरा-रास एक चरित्र गाथा-काव्य है। अणिहल्लपुर पट्टन में ओसवाल जाति के धनी सेठ समराशाह रहते थे। उन्होंने सं० १३७१ में शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार अगणित धन व्यय करके किया था और संघ चलाया था। इसीलिए वह 'संघपति' कहलाये थे। उनकी इस दानवीरता का वर्णन इस रास में किया गया है। इसे श्वेताम्बरीय नागेन्द्रगच्छ के आचार्य पासडसूरि के शिष्य अम्बदेव ने रचा था। इस रास-काव्य के उद्धरण हम पहले लिख चुके हैं। एक पद्य और देखिये—

"निसि दींनी झलहलहि जेम ऊगिउ तारायणु ;
पावल पारु न पामियए वेगि वहई सुखासणु ।
आगेवाणिहि संचरए संघपति साहु देसलु ;
बुद्धिवंतु बहु पुंनिवंतु परिकमिहि सुनिश्चलु ॥"

इन पद्यों की रचना चारणीय रासों से सरल और सुबोध है। इस प्रकार आदि-काल के कतिपय काव्यों की रचना का यह संक्षिप्त परिचय है। आइये पाठक, हिन्दी के प्राचीन गद्य पर भी एक दृष्टि डाल लें।

हिन्दी के गद्य-साहित्य पर दृष्टिपात करने पर हमें ज्ञात होता है कि पूर्व युग में गद्य को साहित्यिकरूप मिला ही नहीं। खुसरो और कबीर के पहले उस समय की खड़ी बोली में गद्य-साहित्य लिखा गया हो, यह पता नहीं चला। अलवत्ता कवि गङ्ग आदि ने कुछ गद्य उस भाषा का लिखा था, जिसे विद्वज्जन साहित्यिक नहीं मानते। साहित्य का आधार नये युग तक पद्य ही रहा[1]। किन्तु हिन्दी जैन साहित्य के भंडार को टटोलने पर हमें आदिकाल से ही हिन्दी-गद्य के दर्शन होते हैं। हिन्दी गद्य का प्रयोग धर्म-साहित्य के निर्माण के लिए तेरहवीं शताब्दि में किया जाने लगा था। इस काल की गद्य-रचनाओं के उदाहरण देखिये—

१ 'जगत्सुंदरीप्रयोगमाला' नामक वैद्यक ग्रन्थ का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह तेरहवीं शताब्दि की रचना अनुमान की गयी है। उसमें कहीं कहीं पर गद्यभाषा का भी प्रयोग किया गया है। एक नमूना देखिये—

---

१. हिं० सा० इु० इतिहास, पृ० ११७।

"सुल घाटी काठे मंत्र—(शाकिन्यधिकारे)

"कुकासु बाढहि उरामे देवकउ सुज्जाहासु खाडतु, (सूर्यंहास खड्ग) कुकासु बाढहि हाकउ कुरहाडा लोहा, राणउ आरणु वम्मी राणी काठवत्तिम साण कीधिणि जे गेउरिहि मंत, ते रुप्पिणिहिं तोडउ सुलूके मोडलं सूलु घाटीके मोडउं, घाटी तोडउं काठेके मोडउँ कांठे सूल घाटी ! कांठे मंत्र—"उडमुड स्फुट स्वाहा"

—(अनेकान्त, वर्ष २ पृ० ६१५)

२ स्व० श्री दलालजी को पाटण के भंडार से चौदहवीं शताब्दि की कतिपय गद्य रचनायें मिली थीं, जिनको उन्होंने प्राचीन गुजराती अनुमान किया था, परंतु उन रचनाओं की भाषा का साम्य प्राचीन हिन्दी से अधिक है। वास्तव में वह हिन्दी की ही रचनायें हैं। उनके रचयिताओं के विषय में दलालजी ने कुछ लिखा नहीं है। पहले ही सं० १३३० की ताड़पत्रों पर लिखी हुई 'आराधना' नामक रचना का नमूना देखिये—

अ—"परमेश्वर अरहंत सरणि, सकलकर्मनिर्मुक्त सिद्ध सरणि, संसार-परीवार-समुत्तरण-यान-पात्र-महा-रुत्व साधु सरणि, सकल-पाप-पटल-कवल-नकला-कलितु-केवलि-प्रणीतु धम्मु सरणि।"

ब—सं० १३४० की लिखी हुई 'अतिचार' नामक कृति का यह अंश देखिये—

"कालवेला पढ्यं, विनयहीणु बहुमानहीणु उपधानहीणु गुरुनिह्णव अनेराकण्हइं पढ्यं।"

स—सं० १३५८ का गद्य इस प्रकार है—

"पहिलउ त्रिकालु अतीत अनागत वर्तमान बहत्तरि तीर्थंकर सर्वपापक्षयंकर हउं नमस्करउं।"

—(प्राचीन गुर्जरकाव्यसंग्रह, पृ० ८६-८८)

इन उल्लेखों की भाषा-सरणी खड़ी-बोली की ओर झुकी हुई-सी है। जिनमें संस्कृत के शब्दों का भी बाहुल्य है। आधुनिक हिन्दी भी तो ऐसी ही है। अतः गद्य के विकासक्रम के अध्ययन के लिए भी हिन्दी जैन साहित्य एक अपना विशेष दृढ़ महत्त्व रखता है।

आदिकाल के साहित्य का सिंहावलोकन करते हुए हम निस्संकोच कह सकते हैं कि उसकी अपनी विशेषतायें हैं। अपभ्रंश भाषा के जैन साहित्य का स्थान तो भारतीय साहित्य में निराला है ही और उसका अध्ययन हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं की उत्पत्ति के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। यह कहना असङ्गत न होगा कि अपभ्रंश प्राकृत भाषा आदिकाल के प्रारंभ में बोलचाल की भाषा थी और वही समयानुसार परिवर्तित होकर पुरानी हिन्दी बन गयी। पाठक यह देखेंगे कि कुछ दूर चलकर पुरानी हिन्दी जब मुसलमानों के सम्पर्क में आयी तो किस प्रकार खड़ी बोली के रूप में परिवर्तित हो गयी। इस काल का हिन्दी जैन साहित्य चरित्र-कथा प्रधान रहा है, यह पहले लिखा जा चुका है। साधारणतः हिन्दी जैन साहित्य-ग्रन्थ मुख्यतः चार विषयों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) तात्त्विक अथवा सैद्धान्तिक ग्रन्थ, (२) पुराण-कथा-चरित्रादि ग्रन्थ, (३) पूजा पाठ और (४) पद-भजन विनती आदि। किन्तु आदिकाल में जो जैन साहित्य रचा गया वह साधारण जनता की हित-दृष्टि को रखकर पुरानी हिन्दी में रचा गया था, इसलिए ही उसमें चरित्र-ग्रंथों की मुख्यता रही। कुछ सुभाषित-ग्रन्थ भी रचे गये। तात्त्विक ग्रन्थों की पूर्ति अपभ्रंश प्राकृत भाषा में रचे हुए ग्रन्थों से होती रही। गृहस्थों

की जिज्ञासा की पूर्त्ति करने के लिए इन चरित्र-ग्रन्थों में ही पर्याप्त तात्त्विक सामग्री मौजूद थी। अतः, उस समय तात्त्विक ग्रन्थों की उतनी आवश्यकता ही नहीं थी। नवयुगकाल में तात्त्विक ग्रन्थों की माँग साधारण जनता में बढ़ी और तब जैनों ने संस्कृत और प्राकृत भाषा के सिद्धान्त ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद उपस्थित करके हिन्दी में जैन तत्त्वज्ञान का एक विशाल साहित्य तैयार कर दिया। हिन्दी के लिए यह गौरव की बात है कि उसे पढ़ कर भारत के प्राचीन तत्त्वज्ञान, ज्योतिष, गणित, न्याय आदि शास्त्रों की अच्छी जानकारी प्राप्त हो सकती है। श्वेताम्बर जैन समाज ने अपने 'आगम ग्रन्थों' को इस शताब्दि में हिंदी रूप दिया है। इसके पहले श्वेताम्बर विद्वान् स्वतंत्र रचनायें रचा करते थे। इस काल के रचे हुए पूजा और स्तोत्र ग्रंथ प्रायः नगण्य हैं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि उस समय जनसाधारण प्राचीन प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में रची हुई पूजाओं और स्तोत्रों को कण्ठाग्र करते थे। जैनियों में आज भी प्राचीन स्तोत्र आदि की मान्यता अधिक है। किन्तु आदिकाल का हिन्दी जैन साहित्य अपना निराला ही महत्त्व रखता है। वह महत्त्व उसमें हिन्दी की उत्पत्ति की जड़ विद्यमान होने एवं हिन्दी गद्य के प्राचीन रूप को उपस्थित करने में निहित है। जैन भंडारों की खोज करने पर इस काल की अन्य रचनाओं के उपलब्ध होने की संभावना है।

मध्यकाल का हिन्दी जैन साहित्य।

(१५ वीं से १७ वीं शताब्दि)

क्रान्ति के पश्चात् शान्तिमय वातावरण का होना स्वाभाविक है। हिन्दी के उत्पत्तिकालके आदि में क्रान्ति की आँधी चल रही थी। मुसलमानों के आक्रमणों और विजयों एवं राजपूतों के पारस्परिक संघर्ष और उनके पतन से प्रत्येक दिशा में और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उथल-पुथल हो रही थी। किन्तु यह परिस्थिति अधिक समय तक न रही। विजेता मुसलमान भारत में बस गये थे। वे अपने पड़ोसी हिन्दुओं से प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। पड़ोसी से वैर बिसाकर वे सुख की नींद सो भी नहीं सकते थे। लड़ते-लड़ते वे थक चले थे और चाहते थे, 'आराम की सांस लें'। उधर राजपूत लोग भी क्षीण-शक्ति हो गये थे। जब भुजविक्रम की ही हीनता थी, तब भला चारण-कविओं के वीर-रस से आप्लावित गीत किस पौरुष को उभारते? परिणामतः समय ने फिर पलटा खाया। भारत में फिर एक बार धार्मिक लहर आयी। साहित्य-संसार उससे अछूता न रहा। हिन्दी-साहित्य-जगत् में यह काल धार्मिक काल कहलाया। पहले ही निर्गुण पन्थ ने अपने ज्ञान का प्रसार किया। इस पन्थ का उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता को स्थापित करना था। सन्त कवियों ने निर्गुणवाद में हिन्दू और मुसलमानों की एक दूसरे के निकट आने की संभावना देखी थी। वे लोग 'नाम' की उपासना करते और वैयक्तिक धर्मसाधना को आवश्यक समझते थे। यद्यपि उनके अलग-अलग सम्प्रदाय थे, परंतु वे एक दूसरे के विरोधी

न थे। हिन्दुओं ने ही मुख्यतः निर्गुण पन्थ को चलाया था। इसके प्रत्युत्तर स्वरूप मुसलमान सूफी कवियों की ओर से प्रेम-मार्गी शाखा का जन्म हुआ। इन कवियों के काव्य की विचार-धारा भारतीय वेदान्त के निकट थी। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य-संसार में एक नया परिवर्तन उपस्थित हुआ। निर्गुणपंथ में कबीर, नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास आदि सन्त-कवि उल्लेखनीय हैं। प्रेममार्गी शाखा को सुशोभित करनेवाले सूफी कवि कुतवन, मंझन, मलिक मुहम्मद जायसी, उस्मान आदि हुए।

भारत के इस परिवर्तन-प्रभाव से जैनी अछूते न रहे,—य भी यहाँ के निवासी थे और अपने पड़ोसियों से पृथक् नहीं रह सकते थे। जैन-जगत् में इस परिवर्तन की प्रक्रिया सर्वाङ्गीण हुई; किन्तु हमें यहाँ पर साहित्यिक-संक्रमण देखना अभीष्ट है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि जैन साहित्य प्रारंभ से ही धर्मप्रधान रहा है। अतएव यह युगकालीन परिवर्तन उसके लिए अनूठा नहीं था। यद्यपि चरित्र-ग्रन्थ लिखने की पूर्व-प्रचलित शैली इस समय भी विद्यमान रही, परन्तु तात्त्विक साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में रचा गया। कविवर बनारसीदासजी तात्त्विक साहित्य के निर्माण करनेवालों में प्रमुख विद्वान् हैं। उनकी रचनायें अध्यात्म और वेदान्त का रसास्वादन करने के लिए अपूर्व हैं। अध्यात्मवाद के उपासक बनकर लोग व्यावहारिक मतभेद को भुलाने का उद्योग करते थे। मूलतः सब ही जन जीव-मात्र में परमज्योति परमात्मा की झलक को चमकती हुई देखते थे। जैन कवि ने स्पष्ट कहा था—

"एक रूप हिन्दू तुरुक, दूजी दशा न कोइ।
मनकी दुविधा मानकर, भये एकसौं दोइ॥
दोऊ भूले भरममें, करें वचन की टेक।
'राम राम' हिन्दू कहें, तुरुक 'सलामालेक'॥
इनकै पुस्तक वांचिए, वे हू पढ़ें कितेव।
एक वस्तु के नाम द्वय, जैसे 'शोभा' 'ज़ेब'॥
तिनकौं दुविधा—जे लखें, रंग विरंगी चाम।
मेरे नैनन देखिये, घट घट अन्तर राम॥
यहै गुप्त यह है प्रगट, यह बाहर यह मांहिं।
जब लग यह कछु है रहा, तब लग यह कछु नाहिं॥"

कवि ने इसमें एक पंथ दो काज की उक्ति चरितार्थ की है। उसे अध्यात्मवाद का कथन करना अभीष्ट है; परन्तु साथ ही वह राजनीतिक ऐक्य की आवश्यकता को भी दृष्टि से ओझल नहीं कर सका है। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य समय की माँग थी। कवि ने उसकी आवश्यकता की पुष्टि करके उस समय की साहित्यिक प्रगति में चार चाँद लगा देने का काम किया है।

इस काल की साहित्यिक भाषा प्रारंभ में अपभ्रंश प्राकृत की ओर झुकी हुई थी; परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों उसमें अपभ्रंश प्राकृत भाषा के शब्दों और मुहावरों का स्थान संस्कृत भाषा लेती गयी। इस प्रकार इस कालमें भाषा का सुधार पूर्ण रूप से हो गया था, बल्कि मुसलमानों के मुख से निकली हुई हिन्दी का भी कुछ प्रभाव इस नूतन हिन्दी पर पड़ने लगा था।

अब यहाँ पर इस काल की रचनाओं और उनके रचयिताओं का परिचय दिया है। परिचय संक्षिप्त है और यहाँ यह संभव

नहीं, कि इस काल की सब ही रचनाओं का विस्तार से उल्लेख किया जा सके।

पन्द्रहवीं शताब्दि की रचनाओं में आदि काल की रचनाओं से अधिक सामञ्जस्य है। प्रेमीजी ने इस शताब्दि की रची हुई तीन कृतियों, अर्थात् 'गौतमरासा' 'ज्ञानपंचमी चउपई' और 'धर्मदत्तचरित्र'का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ का पता कहीं से नहीं चलता है। 'गौतमरासा' को संवत् १४१२ वि० में उदयवंत अथवा विजयभद्र नामक श्वेताम्बर साधु ने रचा था। यह ग्रन्थ छप भी चुका है। गौतमस्वामी के रूप वर्णन का एक छंद देखिये—

"सात हाथ सुप्रमाण देह रूपिहिं रंभावरु॥
नयणवयण करचरणि जिण वि पङ्कज जलिपाडिय।
तेजिहि तारा चंद सूर आकासि भयाडिय॥
रूविहि मयणु अनंग करवि मेल्हिउ निद्धाडिय।
धीरिम मेरु गंभीरि सिंधु चंगमि चय चाडिय॥"

अर्थात्—गौतमस्वामी के शरीर की ऊँचाई सात हाथ की थी और उनका रूप रंभा के रूप से भी श्रेष्ठ था। अपने नेत्रों, वचनों, हाथों और चरणों की शोभा से पराजित करके उन्होंने पंकजों को जल में पैठा दिया था। अपने तेज से उन्होंने ताराओं और चन्द्र-सूर्य को आकाश में भ्रमाया था। अपने रूप से उन्होंने मदन को अनंग (बिना अङ्ग का) बना के निर्द्धाटित कर दिया—निकाल दिया। वह मेरु के समान धीर और सिंधु के समान गंभीर थे। अच्छे चरित्र के थे। इस प्रकार यह रचना अनेक अलङ्कारों से विभूषित है और इसमें भ० महावीर के समय की सामाजिक

स्थिति का सुन्दर चित्रण हुआ है। फलतः यह एक सुन्दर ऐतिहासिक रचना है।

२. ज्ञानपंचमी चउपई मगधदेश में विहार करते समय जिन उदयगुरु के शिष्य और ठक्कर माल्हे के पुत्र विद्धणू ने संवत् १४२३ में रची थी। यह एक धार्मिक रचना है। इसमें श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य दर्शाया गया है। उदाहरण देखिये—

"चिंतासायर जवि नरु परइ, घर धंधल सयलइ वीसरइ।
कोहु माणु माया मद मोहु, जर झंपे परियउ संदेहु।
दान न दिन्नउ मुणिवर जोगु, ना तप तपिउ न भोगेउ भोगु।
सावयघरहि लियउ अवतारु, अनुदिनु मणि चिंतहु नवकारु।"

इस छंद में प्रचलित श्रावक के धार्मिक कर्तव्य का संकेत होता है। निस्सन्देह कवि ठीक कहते हैं कि चिन्तासागर में पड़ कर पुरुष घर के समस्त धंधों को भूल जाता है। क्रोध, मान, माया, मद, मोह में यह जलता है और सन्देह में पड़ता है। इसलिए ही वह मुनिवरों के योग्य न दान दे सकता है, न तप तपता है और न भोग ही भोग सकता है। कवि कहते हैं कि यदि श्रावक के घर जन्म लिया है तो आये दिन नमोकार मंत्र का चिंतवन करो। श्रावक को मुनियों को दान देना चाहिये, इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिये और जिनेन्द्रदेव की उपासना में समय विताना चाहिये।

३. 'धर्मदत्तचरित्र' का उल्लेख प्रेमीजी ने मिश्रबन्धुओं के इतिहास के आधार से किया है। इसे सं० १४८६ में दयासागर सूरि ने रचा था।

सोलहवीं शताब्दि में साहित्यप्रगति को कुछ उत्तेजना मिली

प्रतीत होती है। इस समय सम्राट् अकबर का शान्तिपूर्ण शासन-चक्र चल रहा था। सम्राट् अकबर स्वयं विद्यारसिक और अध्यात्म धर्म-प्रेमी थे। उन्होंने स्वयं राज्य की ओर से साहित्य-निर्माण के कार्य को प्रोत्साहन दिया था। उनका अपना विशाल पुस्तकालय था। अनेक जैन विद्वानों ने स्वयं सम्राट् के लिए संस्कृतभाषा की कई पुस्तकें निर्माण की थी। हिन्दीभाषा-साहित्य को भी उनके समय में प्रगति मिली थी। जैनसाहित्य-जगत् में इस शताब्दि की रची हुई रचनायें अनेक मिलती हैं—वे हैं भी विविध विषयों की और विभिन्न रसों से आप्लावित प्रेमीजी ने इस शताब्दि की कृतियाँ (१) ललितांगचरित्र, (२) सारसिखामनरास, (३) यशोधरचरित्र, (४) कृपण-चरित्र और (५) रामसीताचरित्र गिनाई हैं। 'ललितांगचरित्र' को विक्रम संवत् १५६१ में श्री शान्तिसूरि के शिष्य ईश्वर सूरिने सोनाराय जीवन के पुत्र पुंज मंत्री की प्रार्थना पर बनाया था। उस समय मण्डपदुर्ग (मांडलगढ़) में बादशाह ग्यासउद्दीन के पुत्र नासिरुद्दीन शासनाधिकारी थे। मलिक माफर संभवतः उनके प्रतिनिधि थे। पुंज उनके मंत्री थे। प्रेमीजी कहते हैं कि 'इसकी रचना बड़ी सुन्दर है, यद्यपि उसमें प्राकृत और अपभ्रंश का मिश्रण बहुत है।' उदाहरणरूप उसके थोड़े से पद्य देखिये—

"महिमहति सालवदेस, धण-कणयलच्छि-निवेस।
तिहं नयर मंडवदुग्ग, अहि नवउ जाण कि सग्ग ॥६७॥
तिहं अतुलबल गुणवंत, श्रीग्याससुत जयवंत।
समरत्थ साहसधीर, श्री पातसाह निसीर ॥६८॥
तसु रज्जि सकल प्रधान, गुरु रूपरयण निधान।
हिंदुआ राय वजीर, श्रीपुंज मयणह वीर ॥६९॥

सिरिमाल-वंशवयंस, मानिनी-मानस-हंस ।
सोनाराय जीवनपुत्त, बहुपुत्त परिवरजुत्त ॥७०॥
श्री मल्कि माफर पट्टि, हयगय सुहड बहु चट्टि ।
श्रीपुंज पुंज नरिंद, बहु कवित केलि सुछन्द ॥७१॥
नवरस बिलासउ लोल, नवगाह गेय कलोल ।
निज बुद्धि बहुअ विनाणि, गुरु धम्मफल बहु जाणि ॥७२॥
इय पुण्यचरिय प्रबन्ध, ललिअंग नृपसंबंध ।
पहु पास चरियह चित्त, उद्धरिय एह चरित्त ॥७३॥"

'सारसिखामनरास' संवत् १५४८ की रचना है और 'यशोधरचरित्र' उसके बाद संवत् १५८१ में रचा गया था, जिसे फफोंदू ग्रामनिवासी गौरव दास नामक दिगम्बर जैन विद्वान् ने रचा था ।

'कृपणचरित्र' संवत् १५८० में कवि ठकरसी द्वारा रचा गया था । इस चरित्र का कथानक बड़ा ही रोचक और शिक्षाप्रद है । प्रेमीजी ने इसके विषय में लिखा है कि "यह छोटा-सा पर बहुत ही सुन्दर और प्रसादगुण सम्पन्न काव्य बंबई दिगम्बर जैन मन्दिर के सरस्वती भण्डार में एक गुटके में लिखा हुआ मौजूद है । इसमें कवि ने एक कंजूस धनी का अपनी आँखों देखा हुआ चरित्र ३५ छप्पय छन्दों में किया है ।" कवि कहते हैं— 'जिसौ कृपणु इक दीठु, तिसौ गुणु तासु बखाण्यौ ।' कृपणता का दुखद परिणाम दर्शा कर कवि ने बतलाया है कि 'खरचियो त्याहं जीत्यौ जनमु' और 'जिह संचयो तिह हारियो जनम' जीवन-साफल्य न्यायपूर्वक धन कमा कर उसे नियमित रूप से खर्चने में है—धनको गाड़ रखने में मनुष्य न स्वयं उससे लाभ उठाता है और न उसे दूसरे के काम आने देता है । पाठक इस कथा का

प्रारम्भिक अंश पढ़िये—कवि किस रोचक रूप में कृपण का चित्रण करता है :—

"कृपणु एकु परसिद्धु नयरि निवसंतु निलक्खणु।
कही करम संजोग तासु घरि, नारि विचक्खणु॥
देखि दुहूकी जोड़, सयलु जगि रहिउ तमासै।
याहि पुरिपकै याहिं, दई किम दे इम भासै॥
वह रह्यौ रीति चाहै भली, दाण पुज्ज गुण सील सति।
यह दे न खाण खरचण किवै, दुवै करहि दिणि कलह अति॥
गुरु सौं गोठि न करै, देव देहुरौ न देखै।
मांगणि भूलि न देइ, गालि सुनि रहै अलेखै॥
सगी भतीजी भुवा बहिणि, भाणिजी न ज्यावै।
रहै रूसड़ौ माड़ि, आप न्यौतौ जब आवै॥
पाहुणौं सगौ आयौ सुणै, रहइ छिपिउ मुहु राखि करि।
जिव जाय तबहि पणि नीसरइ हम धनु संच्यों कृपण नर॥"

एक दिन कृपण की पत्नी ने अपने पति के साथ गिरिनार की यात्रा को चलने के लिए कहा। कृपण सेठजी सुनते ही लाल-पीले हो गये। पति-पत्नी में बहुत देर तक वादविवाद हुआ। सेठानी ने धन की सफलता दान और भोग से बतलाई, परन्तु सेठ ने उसका विरोध किया। अन्त में सेठजी तंग आकर कुछ काल के लिए घर से चले गये। जब लौटे तो युक्ति से पत्नी को उसके पीहर भेज दिया। बेचारी को जाना पड़ा। इधर यात्रियों का संघ गिरिनारजी गया। उस जमाने में बैलगाड़ियों से यात्रा की जाती थी—वणिक लोग व्यापार भी करते जाते थे। संघ यात्रा करके लौटा। कृपण ने देखा कि कई लोग मालामाल होकर आये हैं। यह देख कर उसे बड़ा दुख हुआ और पछताने लगा कि 'हाय, मैं क्यों नहीं गया ?'

इसी शोक में वह खाट से लग गया। लोगों ने कहा, 'सेठजी, दान-पुण्य कर लो' वह बोला, 'मैं सारे धन को साथ ले जाऊँगा।' और लक्ष्मी देवी से साथ चलने के लिए प्रार्थना की, परन्तु लक्ष्मी ने स्पष्ट उत्तर दिया कि मुझे साथ ले चलने के जो दान-पुण्य आदि उपाय थे, वह तुमने किये नहीं। इसलिए मैं तुम्हारे साथ नहीं चल सकती। बेचारा कृपण संक्लेश परिणामों से मरा और नरक के दुख भोगने लगा। इधर लोगों ने उसके मरने पर खुशी मनाई और कुटुम्बी जनों ने उसके धनका उपभोग किया। इसी लिए कवि ने ठीक सलाह दी है कि जीवनसाफल्य के लिए धन को खरचना उत्तम है। रचना कवि ने आँखों देखी घटना पर की है, इसलिए उसमें जीवट है।

पं० दीपचन्दजी पाण्ड्या को अजमेर जिले के केराटूं नामक गाँव के जैन मंदिर वाले शास्त्रभंडार में एक गुटका वि० सं० १५७६ का लिखा हुआ मिला था, जो उनके पास है। इस गुटका में निम्नलिखित रचनायें पुरानी हिन्दी की प्रतीत होती हैं*—

१. सोढ्ढल श्रावक कृत आगम के छप्पय, जिनमें २४ दंडकों का वर्णन है।

२–३. विनयचन्द्र मुनिकृत 'कल्याणकरासु' और 'चूनड़ी'।

४. पंचमेरु संबंधी बीस विहरमाणतीर्थंकर जयमाला।

---

* पाण्ड्याजी ने नं० १ से ५ तक की रचनाओं को अपभ्रंश भाषा की लिखा है, परंतु 'अनेकान्त' वर्ष ५ अंक ६–७ पृष्ठ २५७ से २६२ में उन्होंने जो 'चूनड़ा' रचना प्रकाशित की है, उससे वह पुरानी हिन्दी जँचती है। 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा से इसकी भाषा अधिक सुबोध है। इस लिए ही उपर्युक्त रचनाओं की गणना हमने हिन्दी में की है।

५. भ० जयकीर्ति कृत पार्श्व भवान्तर के छंद।

६ भद्रबाहु रास के अन्तर्गत 'चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न'।

'चूनड़ी' ग्रन्थ के कर्त्ता माथुरसंघीय भट्टारक बालचन्द्र के शिष्य म० विनयचन्द्र हैं, जिन्होंने उसे गिरिपुर में रहते हुए अजय नरेश के राजविहार में बैठकर रचा था। इसमें जैनधर्म और संघ सम्बन्धी अनेक चर्चाओं का सांकेतिक रूप में संग्रह किया गया है, जो एक स्मृतिपट का काम देती है। इसीलिये उस पर संस्कृतभाषा में एक विस्तृत टीका भी बनाई गई है। 'चूनड़ी' एक प्रकार की रंगीन ओढ़नी या दुपट्टे को कहते हैं, जिसे रंगरेज या छीपी रंग-बिरंगी बूटें डाल और बेल बनाकर रंगते हैं। चूनड़ी का दूसरा नाम चूर्णी भी है जिसका अर्थ होता है बिखरे हुए प्रकीर्णक विषयों का लेखन अथवा चित्रण। ग्रन्थकार ने भोली महिला द्वारा की गई पति से ऐसी चूनड़ी के लिखाने-छपाने की प्रार्थना को हृदयस्थ करके जिसे ओढ़कर जिनशासन में विचक्षणता प्राप्त होवे, इस ग्रन्थ की रचना की है, इसके प्रारंभिक पद्यों को पढ़िये—

"विणएँ वंदिवि पंचगुरु, मोहमहातम-तोडन-दिणयर।
णाह लिहावहि चूनडिय, मुद्धउ प-भणइ पिउ जोडिवि कर॥ ध्रुवकं।
पणवउ कोमल-कुवलय-णयणी, (अमिय-गब्भ अण-सिव-यर-वयणी।)
ए-सरिणि सारद-जोण्ह जिम, जा अंधारउ सयल विणासइ॥
सा महु णिवसउ माणसहिं, हंसवधू जिम देवि सरासइ॥

× × × ×

हीरा-दंत-पंति-पयडंती; गोरउ पिउ बोलइ विहसंती।
सुंदर जाइ सु चेइहरिं; महु दय किजउ सुहय सुलक्खण॥
लइ छिंपावहि चूनडिय; हउ जिण सासणि सुट्ठु वियक्खण॥"

इस भाषा को हम हिन्दी क्यों न कहें ? जब कि इस 'मोहमैं महातम-तोडन 'दिनकर'—'अंधकार सकल विनासे'—'निवसो मानसहिं' जैसे हिन्दी मुहावरे के शब्द पड़े हुए हैं। इसका अंतिम पद भी देखिये—

"तिहुयणि गिरिपुरु झाग विक्खायउ, सग्ग-खंडु णं धरयलि आयउ।
तहिं णिवसंतें मुणिवरें, अजय-णरिंदहो राय-विहारहिं ॥
वेगें विरइय चूनडिय सोहहु, मुणिवर जे सुय धारहिं ॥३१॥"

अपना इतना परिचय ही ग्रंथकार ने दिया है। इससे उनका समय निर्दिष्ट नहीं होता; परंतु वह लिपिकाल अर्थात् सं० १५७६ से तो पहले की ही है।

हमारे संग्रह में एक गुटका वि० सं० १६२६ का लिखा हुआ है, जिसमें अनेक स्तोत्र लिखे हुए हैं। उसमें लिपि की प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

"संवत् १६२६ वर्षे श्री माघमासे शुक्लपक्षे श्री वसन्तपञ्चमी दिने श्री बृहत्खरतरगच्छे श्री जिनचंद्रसूरिविजयराज्ये वा० श्री लक्ष्मी विनइगणि तत् शिष्य पण्डित क्षांतिरंगगणिना लिपीकृतं पुस्तिका प्रदत्ता।"

इस गुटके में संग्रहीत कतिपय रचनाओं की भाषा पुरानी हिन्दी प्रतीत होती है, यद्यपि उनके लिखने का ढंग अपभ्रंश जैसा है। उन रचनाओं में यह भी है। उनमें न तो रचनाकाल है और न प्रायः रचयिता का नाम ही। ऐसी रचनायें निम्नलिखित हैं और इनको हम सं० १६२६ से पहले की अर्थात् १५ वीं—१६ वीं शताब्दियों की अनुमान करते हैं—

१. श्री विमलनाथस्तवन—श्री जयलाल मुनिकृत;
२. मेघकुमार कथानक—अज्ञातकविकृत;
३. गर्भविचारस्तोत्र (?)—श्री पद्मतिलक कृत;
४. श्री पार्श्वजिन विज्ञप्तिका—अज्ञात कविकृत;
५. अजितना शांति विवाहला स्तोत्र—श्री मिरनंदण उवझाय कृत;
६. स्तंभन पार्श्वनाथ स्तोत्र—श्री अभयदेवकृत;
७. खैराबाद पार्श्व जिनस्तवन—श्री गणिक्षांतिरंगकृत;
८ पार्श्वस्तवन—श्रीगुणसागर कृत;
९. जिनस्तवन—(नं० ५ के अनुरूप है)
१०. वीरस्तवन— „ (अपूर्ण)

'विमलनाथस्तवन' का प्रारंभिक अंश अनुपलब्ध है; क्योंकि गुटका के वे पत्र नष्ट हो गये हैं। स्तवन तेरहवें छंद से प्रारंभ होता है, जो इस प्रकार है—

"तुम दरसनि मन हरपा, चंदा जेम चकोरा जी;
राज रिधि मांगउ नहीं, भवि भवि दरसन तोरा जी ॥१३॥ विम०॥
मात पिता वनिता भाई, स्वारथि सवइ संगाई जी;
तुम्ह सम प्रभु कोई नहीं, इहरत परति सहाई जी ॥१४॥विम०॥

× × × ×

वैराटिपुर श्री विमल जिनवर सयल रिधि सिधि दायगो।[1]
इम थुणिउ भत्तिहि नियइ सत्तिहि, तेरमउ जिणनायगो ॥१७॥
श्री सयल संघह करण मंगल, दुरिय पाप निकंदणो।
श्री जयलाल मुणंद जंपइ, देहि नाण सुदंसणो ॥१८॥"

---

१. इससे प्रकट है कि वैराटपुर (जयपुर रियासत) में विमलनाथ भगवान् की प्रतिमा प्रसिद्ध थी।

'मेघकुमारकथानक' भी अपूर्ण है। उसका अन्तिम पद्य अवशेष नहीं है। प्रारंभ के पंद्रह छंद हैं, जिनके नमूने देखिये—

"वीर जिणंद समोसरि जी, वंदइ मेघकुमार;
सुणि देसण वयरागियो जी, इहु संसार असार; री मइड़ी ॥१॥
अनुमति देहु मुझ आज; संजम श्री सिउ काजरी। माई अनुम०, आंचली
वछ किं णइ तू भोलविउ रे, श्रेणिक तात नरेस,
काइ अणउ किं ण बूहविउरे, हंउ नवि देउं आदेउ आदेस रे जाय ॥२॥
संजम विषम अपार, आदि निगोदि जिहा रुलिउरी,
सहिया दुक्ख अनंत, सास उसास भव पूरियो री,
अजउ न पाम्रो अंतरी माई, अनुम० ॥३॥"

इस प्रकार माता और पुत्र में संसार की असारता पर प्रश्नोत्तर होते हैं, जो वैराग्यभावना जागृत करते हैं। जब माँ की अपनी बात नहीं चलती, तो वह उनकी स्त्रियों की बात आगे लाकर कहती है—

"मृगनयणी आठइ रडूरे, नयणहि नीर प्रवाह;
भरि जोवन छोरू नहीं रे मूकिन भूल अनाहरे जाया, संजम० ॥१४॥"

किन्तु मेघकुमार के मन में वैराग्य ने गहरा रंग जमाया था, अतः युवती पत्नियों का सौन्दर्य भी उनके मन को वैराग्य से मोड़ न सका। अन्त में दिल थाम कर माता पुत्र को दीक्षा लेने की आज्ञा देती है—

"तणु तूटइ लोयण[1] झरइरे, दुप न हियइ समाइ।
होहु सुषी वंछति तुम करउ रे, उनमति[2] दीनी माइरे जाया।"

'गर्भविचारस्तोत्र' अट्ठाइस छंदों में समाप्त हुआ है। वैसे यह स्तोत्र श्री ऋषभनाथजी को लक्ष्य करके लिखा गया है, परंतु

१. लोचन। २. अनुमति।

इसमें गर्भवास के दुखों का वर्णन है, इसलिए गर्भविचारस्तोत्र नामाङ्कित है। रचना देखिए—

"सिरि रिसहेसर[1]पय णमेवि, पुर कोटहं मंडण।
कंगड़ दुग्गहं [2]पढमंतित्थ[3] दुह दुरिय विहंडण॥
सामी जंपउं किंपि दुक्ख णिय माणस केरउ।
गरुवा जिणवर किसहं राखि सुझ भवलउं फेरउ॥ १॥

× × × ×

आदि अनादि निगोद माहि वहु कालु भमिउं महं।
सतर साढऊसासमझि भव पूरिय जिण महं॥
णिग्गोदहं णीसरिउ णाह पडियउ पुढिंदिहिं।
पुढवि आउ सहुं, तेउ[4] वाउ[5] वणसइ[6] दुहुं भेदिहिं॥ २॥

× × × ×

पुव्व पुण्ण[7] संजोगि पुणवि मणुवत्तणु[8] पाविउ।
विविह दुक्ख णव मास सहु गब्भिहिं संताविउ॥
रमणि नाभितलि नाल कारि दुहुं पुप्फहं अच्छइ।
कोसागारिहिं ता मुहेठि पुण जोनि पडित्थइ॥ ९॥

× × × ×

दंसण तुम्ह विहाण अच्छ चिंतामणि चडियउ।
सुरतरु अंगणि अम्ह अच्छ विविहप्परि फलियउ॥
सुरहंधेणु अंगणिहिं णाह अम्हहं अवयरियउ।
जइ भेयउ सिरि रिस हणाह मणवंछिय सरियउ॥२७॥
सिद्ध सूरि सीसेहिं जिण विनयउ परमाणंद।
पउमतिलय तुम्ह पय सरण दीठइ मण आणंद॥२८॥

---

१. ऋषभेश्वर। २. दुर्ग के। ३. प्रथम तीर्थङ्कर। ४. तेज। ५. वायु
६. वनस्पति। ७. पुण्य। ८. मानव तन।

इसकी भाषा में अपभ्रंश शब्दों का आधिक्य है, परंतु रचना-सरणी हिन्दी ही है। मालूम होता है कि कोट कांगड़ा की ऋषभ-मूर्ति को लक्ष्य करके यह रचा गया है।

'पार्श्वजिनविज्ञप्तिका' दस छंदों का एक छोटा-सा सुंदर स्तवन है। नमूना देखिये—

"जय जय पास[1] जिणेसर, णिरुवमरूव परमकारुणिय।
जय जय सव्वगुणायर,[2] जय सामिय सयल गुणणिलय ॥ २ ॥
× × × ×
जय सुतुमं जय सामियं, अरकलिय णिरामयं चिरंजयसु।
णंद सुपाव सुसोहं, लहसुजसं तिहुवणे सयल ॥ १० ॥'

श्री अजितनाथशांतिविवाहलास्तोत्र—बत्तीस छंदों में पूर्ण हुआ है, जिनमें श्री अजितनाथ और श्रीशान्तिनाथ तीर्थङ्करों की जीवन-घटनाओं का वर्णन किया गया है। कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

"मंगल कमला कंदुए, सुखसागर पूनिम चंदुए।
जग गुरु अजिय जिणंदुए, संतीसरु नयणाणंदुए ॥ १ ॥
वे जिणवर पणमेविए, वे गुण गाइ सुसंसेविए।
पुन्य भंडार भरेसुए, मानवभव सफल करेसुए ॥ २ ॥"
× × × ×
बिहुं षमि दमि धारिम धरीए, विहुं मोह मयण मद परिहरय।
बिहुं जिण ज्ञाण सयाणए, विहुं पामिय केवल नाणए ॥२५॥
× × × ×
वे उच्छव मंगल करण, वे सयल संघ दुरियहं हरण।
वे वर कमल वयण नयण, वे सिरि जिणराय भवण रयण ॥ ३१ ॥
इम भगसिहिं भोलिम तणीए, सिरि अजिय संति जिण थुइ भणिए।
सरणइ विहुं जिण पाए, सिरि भिरनंदण उवझाए ॥३२॥

---

१. पार्श्व। २. गुणाकर।

श्री स्तंभनपार्श्वनाथस्तोत्र एक प्रसादपूर्ण रचना है, जो तीस छन्दों में पूर्ण हुई है। यह रचना पार्श्वनाथ भगवान् की उस मूर्ति को लक्ष्य करके रची गई है जो स्तंभनपुर में विराजमान थी। इसके उदाहरण देखिये—

"जय तिहुयण वर कप्परुक्ख, जय जिण धन्नंतरि।
जय तिहुयण कल्लाण कोस, दुरिय क्करिणेसरि॥
तिहुयण जण अवलंघियाण, भुवणत्तय सामिय।
कुणसु सुहाइं जिणेस पास, थंभणयपुरट्ठिय॥ १॥
तइं समरंति लहुंति भत्तिवर पुत्तकलत्तइं।
धन्न सुवन्न हरिण्ण पुण्ण जण भुञ्जइं रज्जहिं॥
पिरकइ सुरक असंख सुख तुह पास पसायण।
इय तिहुयण वर कप्प सरक सुरकइ कुण मह जिण॥ २॥

× × × ×

एय महारिय जत्तदेव किं न्हवण महुसव,
जं अणलिय गुण गहण तुम्ह मुणिजण अणसिद्धउ।
एम पसीय सपासनाह थंभणयपुरट्ठिय,
इय मुणिवर सिरि अभयदेव विन्नवइ अणंदिय॥ ३०॥"

श्रीखैराबाद पार्श्वजिनस्तवन—एक छोटा-सा स्तोत्र खैराबाद में स्थित पार्श्वजिन की प्रतिमा को लक्ष्य करके लिखा गया है। यथा—

"पास जिणंद षइराबाद मंडण, हरषधरी नितु नमिस्यं हो।
रोर तिमर सब हेलिहिं हरस्यूँ, मन वंछित फल वरस्यं हो॥
भुवण विसाल भविक मन मोहइ, अनुपम कोरणि सोहइ हो।
सुर नर किंनर नाग नरेसर, पणमइ प्रह सम पाया हो॥

× × × ×

इय पास जिणवर नयण मणहर, कप्पतरुवर सोहए।
श्री नयर खयराबाद मंडण, भविय जण मण मोहए॥
श्री कनक तिलुक सुसीस सुंदर, लिक्ष्मी विनइ मुणीसरो।
तसु सीस गणि क्षांतिरंग पभणइ, हवइ दिन दिन सुपक्करो॥"

श्री पार्श्वजिनस्तवन—छोटा-सा दर्शनस्तोत्र है। देखिये उसकी रचनाशैली यह है—

"पास जी हो पास दरसण की बलि जाइयै; पास मनरंगै गुण गाइयै।
पास बाट घाट उद्यान मैं, पास नागै संकट उपसमै। पा०।
उपसमै संकट विकट कष्टक, दुरित पाप निवारणो।
आणंद रंग विनोद वारू, अपै संपत्ति कारणो॥ पा०॥

× × × ×

देवाधिदेव त्रलोक·········री स्वामी कृपा धणी।
श्री गुणसागर कर जोडि विनवै पूरो आस्या मन तणी॥"

'श्री गौतमस्तोत्र' के प्रारंभिक छन्द इस प्रकार हैं—

"वीर जिणेसर चरण कमल कमलाकइवासो,
पणमवि पक्ष णिसि स्वास साल गोयम गुणरासो।
मणु तंणु वइणइ कंत करिवि निसुणो भो भविया;
जिम निवसइ तुम देह गुणगण गह गहिया॥ १॥
जंबुदीव सिरि भरह पित्त पोणी तलु मंडण,
मगधदेस सेणी नरेस रिव-दल-बल-पंडण।
धणवर गुवर गाम नाम जिह जिण गुण सिक्का;
विप्र वसइ वसभूय तच्छ तसु पुह वीभक्का॥ २॥"

अंतिम छंद पन्ना फट जाने से अप्रकट है।

इस प्रकार इस गुटका में दिये हुए हिन्दी भाषा के स्तवनों का परिचय है। इन स्तवनों में विशेषता यह है कि इनमें जिन

भगवान् के गुणों और उनके जीवन की मुख्य घटनाओं अथवा स्थानविशेष में स्थित उनकी प्रतिमाओं और मंदिरों का वर्णन दिया हुआ है। जैन भक्तिवाद वीरपूजा का दूसरा नाम है और इन स्तोत्रों से यह स्पष्ट है कि मध्यकालीन जैनी उपासना के आदर्श को भूले नहीं थे।

कविवर श्री राजमल्लजी पांडे जैनसाहित्यगगन के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। उन्होंने संस्कृत, अपभ्रंश प्राकृत और हिन्दी तीनों ही भाषाओं में रचनायें की थीं। वह कवि राजमल्ल के नाम से प्रसिद्ध थे। वह अपने नाम के साथ "स्याद्वादानवद्यगद्यपद्य-विद्याविशारद" विशेषण का प्रयोग करते हुए मिलते हैं। किन्तु खेद है कि इससे अधिक उन्होंने अपने विषय में कोई परिचय नहीं दिया है। इस अभाव की पूर्ति किसी अन्य स्रोत से भी नहीं होती और इस अवस्था में कविवरजी का जीवनचरित्र अज्ञात क्षितिज में ही विलीन रहता है। हाँ, इसके विपरीत उनका पाण्डित्य सूर्य के समान प्रखर और सर्वव्याप्त है। प्रो० जगदीशचंद्र उनके विषय में लिखते हैं कि "कवि राजमल्ल की रचनाओं के ऊपर से मालूम होता है कि आप जैनागम के बड़े भारी वेत्ता एक अनुभवी विद्वान् थे। आपने जैन वाङ्मय में पारंगत होने के लिये कुन्द-कुन्द समन्तभद्र, नेमिचन्द्र, अमृतचन्द्र आदि विद्वानों के ग्रन्थों का विशाल तथा सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन और आलोडन किया था। पं० राजमल्ल केवल आचारशास्त्र के ही पण्डित न थे, बल्कि इनने अध्यात्म, काव्य और न्याय में भी कुशलता प्राप्त की थी, यह आपकी विविध रचनाओं से स्पष्ट मालूम होता है।" वैसे कवि राजमल्लजी भ० हेमचन्द्रजी काष्ठा-

संघी की आम्नाय में थे, जिनका सम्बन्ध माथुरगच्छ और पुष्करगण से था। उनकी रची हुई चार रचनायें उपलब्ध हैं— (१) पंचाध्यायी, (२) लाटी-संहिता, (३) जम्बूस्वामिचरित्र और (४) अध्यात्मकमलमार्तण्ड। कवि राजमल्लजी की पाँचवीं रचना 'छन्द शास्त्र' अथवा 'पिंगल' का पता अभी चला है, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह रचना ही कविजी की केवल हिन्दी में है; यद्यपि इसमें भी संस्कृत और अपभ्रंश प्राकृत का समावेश किया गया है। उस समय की साहित्यिक प्रगति और शैली का इसे प्रतिबिंब ही समझना चाहिये। यही नहीं, इसमें शाह अकबर के समय की कई ऐतिहासिक वार्ताओं का भी उल्लेख है। इसको उल्लेख करते हुये हिन्दी भाषा के छन्द-शास्त्र को पूर्ण उद्धृत करने का लोभसंवरण हम नहीं कर सके हैं, जो परिशिष्ट रूप में दिया जा रहा है। उसमें ऐसे कई छन्दों के उदाहरण दिये हैं जो अनूठे हैं। उनकी रचना प्रसाद-गुण से समलंकृत है और कवि राजमल्लजी को इस शताब्दि का श्रेष्ठ कवि ठहराती है। इस 'पिंगल' में अपभ्रंश हिन्दी-मिश्रित भाषा के भी छन्द हैं, जो भाषाशास्त्र की दृष्टि से महत्त्व की वस्तु हैं। उनके कुछ उदाहरण देखिये, जिनको हम 'पिंगलशास्त्र' की उस एक मात्र हस्तलिखित प्रति से उद्धृत कर रहे हैं जो श्रीदि० जैन सरस्वतीभवन, पंचायतीमन्दिर, मसजिद खजूर, देहली में (नं० ३) विद्यमान है—

"गयंद-राजि-गजियं, समाजि-वाजि-सज्जियं ।
दिस-णिसान-वज्जियं, चमू-समूह-धाइयं ॥
कमाण-वाण-धारियं, कृपाण-पाणि-नारियं ।
कुचण हुंहकारियं, रजो गराण छाइयं ॥

वसुंधराधिराज राजपूत नेजवाज, गाज राइ धाइ धाइ आइ पाइहू लगाइए।
भारमल्ल कउ सपूत्तु दान मान पग्ग जुत्तु, इंद्र कै प्रताप इंद्रसाहि जू
बढ़ाइए ॥१४६॥

यह मिश्र भाषा हिन्दी के बहुत निकट आती है; परन्तु निम्न लिखित छन्द तो निरे अपभ्रंश प्राकृत के ही दिखते हैं :—

"गाहो गांह विगाहो, उग्गाहो साहिणायखंधम्हि,
छव्विहग्गाहा भेउ, पयासिऊ पिंगलायरिहिं ॥ १५३ ॥
गाहाणं वीयदलं, पुव्वद्धे होदिय छद्धे।
एसो गाहो भणिदो, कित्ती भण भारमल्लस्य ॥ १५४ ॥"

इस पिंगलशास्त्र को जिन नृप भारामल्ल के लिये कवि ने रचा था, वह श्रीमालवंश के प्रतापी श्रावक-रत्न थे। वह नागौर देशके संघाधिपति थे और बादशाह अकबर के समान ही साकंभरी (साँभर) के शासनाधिकारी थे। निम्नलिखित छन्द में कवि यही बताते हैं :—

"नागौरदेसम्हि संघाधिनाथो सिरीमाल,
राक्याणिवंसि सिरी भारामल्लो महीपाल।
साकुंभरी नाथ थप्यौ सिरी साहि समाणि,
राजाधिराजोवमा चक्कवट्टी महादाणि ॥ १६९ ॥"

भारामल्लजी दानवीर के साथ युद्धवीर भी थे; यह भी पाठक देखिये—

"दंति निकट वाजि विकट, जोहधिकट कुप्पियं,
सिंधुसरणि धूलि तरणि लुप्पियं।
खग्ग चमक भुम्मि दमक सद्द गमक वज्जियं,
मल्ल भणय लच्छितनय देवतनय सज्जियं ॥ १९६ ॥"

६

हिन्दी का एक पद्य भी देखिये :—

"जिनकै गृहहेम महावन है तिनकौ वसुधा हय हेम दिए;
जिनकौं तनजेव तरातन है तिनके घरते दरवार लिए।
सुर नंदन भारहमल्ल बली, कलि विक्रम ज्यौं सक बंधविए,
जस काज गरीब्रनिवाज सवे सिरिमाल निवाजि निहाल किए ॥"

'कलि विक्रम ज्यों शक बंधविए' चरण इस बात का द्योतक है कि नृपति भारामल्ल ने किसी युद्ध में यवनों को बन्दी बना लिया था। सारांश यह कि कवि राजमल्ल जी का यह 'पिंगल शास्त्र' उस समय के हिन्दी साहित्य का अनूठा रत्न है, जिस पर आज भी गर्व किया जा सकता है।

श्री देवकलशकृत ऋषिदत्ताचरित्र इस शताब्दि की एक सुन्दर रचना है। सिंहरथ राजा की रानी ऋषिदत्ता थी। उन्होंने शीलधर्म का दृढ़तापूर्वक पालन किया था। अन्त में दोनों ने साधु-दीक्षा धारण की और संयम पाला। वे दोनों भद्दलपुर नामक विशाल नगरी में आये। जहाँ शीतलनाथ भगवान् का जन्म हुआ था। वहाँ से वह सिद्ध हुये। इसकी भाषा में गुजराती शब्द भी मिलते हैं, जिससे इसके रचयिता गुजरात देश के निवासी प्रतीत होते हैं। इसकी एक प्राचीन प्रति श्री दि० जैनमन्दिर सेठ के कूँचा दिल्ली के मन्दिर में विराजमान है। रचना का नमूना देखिये—

"कणकतणी परि तनु अभिराम, तिणि कनकरथ दीधउ नाम।
गुणियण संघ घणूं तसु मगइ, निरगुण दीठा मन कमकमइ ॥१७॥
सूरवीर समरांगणि धीर, दाता जलनिधि जिम गंभीर।
बोलइ सुललित मधुरी वाणि, सहुको तिणि रीझइ अभिराम ॥१८॥

अन्त के छन्द इस प्रकार हैं—

सीतल जिन जन्मइ सुपवित्र, भद्दिल.पुरवर छइ पवित्र।
तिहां आया गुरुसाथि, केवल कीधउ हाथि ॥९३॥

× × × ×

"श्री उवझायएस(?) गछ जयवंता, पाठक देवकल्लोल महिमावंता।
दिनिदिनि तैज दीपंता, अतिवर गुण विहसंता॥
नवरस नवतत्त्व वाणी वपाणइ, सकल शास्त्र सिद्धांतह जाणइ ॥९५॥
तास सीसदेग कलसिइं हरसिइं, पनरह सइ गुणहत्तरि वरसिइं।
रचिउ सीलप्रबंध, ए चरित रिपिदत्ता केरउ।
सील तणोउ नापन उनवेरउ छइ प्रगट संबंध ॥९६॥"

इससे प्रगट है कि इस ग्रन्थ को पाठक देवकल्लोल के शिष्य देवकलशजी ने संवत् १५६९ में रचा था, जिनका सम्बन्ध श्वेताम्बर संघ के श्री 'उवझाएस' (?) गच्छ से था।

बाबू ज्ञानचन्द्रजी ने अपनी "दिगम्बर जैन भाषा ग्रन्थ नामावली" (पृ० १) में पं० धर्मदासजी कृत "श्रावकाचार भाषा छन्द बद्ध" का भी उल्लेख किया है, जो वि० सं० १५७८ में रचा गया था। जयपुर में बाबा दुलीचन्दजी के 'शास्त्र भण्डार' में इसकी एक प्रति मौजूद थी।

श्री विनयचन्द्रजी कृत 'चूनड़ी' ग्रन्थ का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उपरान्त हमें श्रीयुत भाई पन्नालालजी अग्रवाल दिल्ली के विशेष अनुग्रह से दिल्ली के पंचायती मन्दिर (मसजिद खजूर) के भण्डार की एक प्राचीन पोथी देखने को मिली है। उसमें श्री नियमचन्द्रजी की (१) निर्झर पंचमी विधान कथा और (२) कल्याणकविधिरास नामक दो रचनायें और दी हुई

हैं। पहली रचना में भविष्यदत्त का चरित्र दिया गया है। भाषा दोनों ही रचनाओं की अपभ्रंश प्राकृत मिश्रित प्राचीन हिन्दी है। उदाहरण देखिये :—

"पणविवि पंच महागुरु, सारद धरिवि मणे।
उदयचंदु मुणि वंदिवि, सुमरिवि बाल मुणे॥
विणयचंदु फलु अरकइ, णिज्झर पंचमिहिं।
णिसुणहु धम्म कहाणउ, कहिउ जिणागमिहिं॥

× × × ×

तिहुयणगिरि तलहट्टी यहु रासउ रयउ।
माथुर संघहं मुणिवरु विणइचंदि कहिउ॥
भवियहु पढ़हु पढ़ावहु दुरियहु देहु जले।
माणु म करहु म रूसहु, मणु खंचहु अचलो॥
जेण भणंति भडारा पंचमियं वय हो।
अम्हहि ते दरिसाविय अविचलु सिद्धिपहो॥"

दूसरी रचना में चौवीस तीर्थङ्करों के पञ्चकल्याणकों की तिथियों का व्याख्यान किया गया है। उदाहरण देखिये :—

"सिद्धि सुहंकर सिद्धिपहु, पणविवि ति जयपयासण केवल।
सिद्धिहिं कारण थुणमिहउ, सयलवि जिणकल्लाणइ नियमल॥ सिद्धि०॥
पढम परिक दुइजहिं आसाढहिं, रिसह गब्भु तहि उत्तरसाढहिं।
अंधारी छट्ठहिं तहिमि, वंदमि वासुपूज गब्भुच्छउ।
विमलु सुसिद्धउ अट्ठमिहिं, दसमिहिं नमिजिण जम्मणु तहतउ॥ सिद्धि०॥

× × × ×

एयभत्तु एकुजि कल्लाणउ; विहि निव्वियडि अहवइ गट्ठाणउ।
तिहु आयंविलु जिणु भणइ, चउहु होइ उपवास गिहत्थहं॥
अहवा सयलह खवण विहिं, विणयचंदि मुणि कहिउ समत्थहं॥ सिद्धि०॥

इसी उपर्युक्त पोथी में प्राचीन हिन्दी की कुछ और रचना हैं। मुनि चारित्रसेन कृत 'समाधि' पहली रचना है। परिचय के लिए नमूना देखिए :—

"गणहर भासिय ए जिय संति समाधी ॥
दंसण णाण चरित्त समिद्धो, संमाधी जिणदेवहं दिट्ठी ।
जो करेह सो सम्माइट्ठी ॥ संमाधी ० ॥ ॥ १ ॥

× × × ×

जीवन जाणहिं तुहुं अप्पणाउं सरीरु ।
अप्पउ जाणहि णाण गहीरु ॥ सम्माधी० ॥

× × × ×

अइसउ जाणि जिया वहत्थ विभिन्ना ।
पुग्गल कम्मवि अप्पउ भिन्ना ॥ सम्माधी० ॥
जोवणु धणिय धणु परियणु णासइ ।
जीव हो ! धंमु सरीसउ होसइ ॥ सम्माधी० ॥

× × × ×

चरितसेणु मुणि समाधि पढंतउ ।
भवियहं कंमु कलंकु डहंतउ ॥ सम्माधी० ॥
नेमि समाधि सुमरि जिय विसु नासइ ।
जिय परमरकरि पाउ पणासइ ॥ सम्माधी० ॥
सोहणु सो दिवसु समाधि मरीजइ ।
जम्मण मरणह पाणिउ दीजइ ॥ सम्माधी० ॥
अइसी समाधि जो अणु दिणु झावइ ।
सो अजरामरु सिव सुह पावइ ॥ सम्माधी ॥५०॥"

देखिए इसमें समाधि मरण का जो चित्राङ्कन किया गया है वह कितना सुन्दर और उपयोगी है।

मुनि महानन्दिदेव ने 'आनन्दातिलक' नामक रचना साधुओं और मुमुक्षुओं को सम्बोधन के लिये आध्यात्मिक सुभाषित नीति रूप में गोपाल साह के लिए रची थी। नमूना देखिये :—

"चिदानंदु सानंदु जिणु, सयल सरीरह सोइ।
महानंदि सो पूजियइ, आनंदाग्गतमंडलु थिरु होइ॥ १॥
अप्पु निरंजणु अप्पु सिउ, अप्पा परमानंदु।
मूढ़ कुदेवु न पूजियइ, आनंदागुर विणु भूलेउ अंधु॥ २॥
अठसढि तीरथ परिभमइ, मूढ़ा मरहिं भमंतु।
अप्पा बिंदु न जाणही, आनंदा घट महि देउ अणंतु॥ ३॥
भिंतरि भारिउ पापमल, मूढा करहिं सनाणु।
जे मल लागा चित्तमहि, आनंदा ते किम जाहि सनानि॥ ४॥
ध्यान सरोवरु अमिय जलु, मुणिवरु करहिं सनाणु।
अट्ठ कम्ममल धोवही, आनंदा नियउइहु निव्वाणु॥ ५॥
× × × ×
सद् गुरु उवयारे ने याउ, हउ भणेवि महानंदि देउ।
सिव पुरु जाणिउ णाणियहं, आनंदाकरमि चिदानंदु देउ॥४२॥

कहीं कहीं तो रचना बड़ी ही सुन्दर और मनोहर है।

पण्डित श्री हरिचन्द अग्रवाल वंश में उत्पन्न हुये थे। उन्होंने 'पद्धड़ी छन्द' में 'अनस्तमित व्रत सन्धि' रची थी, जिसमें रात्रि भोजन का निषेध मनोहर रीति से किया है। कवि ने इसकी रचना में किसी कथानक का सहारा नहीं लिया है। बल्कि यह एक स्वतन्त्र रचना है। सोलह सन्धियों में कवि ने इसे पूरा किया है। प्रत्येक सन्धि के अन्त में एक 'घत्ता' छन्द है। उसकी भाषा अलबत्ता कहीं कहीं पर पूर्णतया प्राकृत से जा मिली है वैसे उसे हम प्राचीन हिन्दी ही मानते हैं। उदाहरण देखिये :—

"आइ जिणिंदु रिसहु पणवेप्पिणु, चउवीसहं कुसुमंजलि देप्पिणु।
वड्ढमाणु जिणु पणविवि भावि, कलमलु कलुसवि वच्छिउपावें।"

इस सन्धि में वर्द्धमान प्रभू का सौधर्मेन्द्र द्वारा स्नानोत्सव का वर्णन करके दूसरी सन्धि में उनकी स्तुति की है। तीसरे में मनुष्य भव की दुर्लभता बताकर धर्म पालने का उपदेश दिया है।

"दुल्लहउ पावेप्पिणु मणुय जम्मु, जिणनाहें देसिउ मुणिवि धम्मु।
महु मज्ज मंसु नउ अहिल्सेइ, पंचुंवर न कयाइ विगसेइ।"

चौथी सन्धि में कवि निशि भोजन निषेध कथन की प्रतिज्ञा करता है और आगे की सन्धियों में निशि भोजन के दोषों को विविध प्रकार से हृदयङ्गम कराता है। वह लिखता है: —

"रयणिहिं भुंजंतहं दोसु होइ, एरिसु मुणिवर जंपंति लोइ।
जहिं भमहिं भूयरक्खस रमंति, जहिं विंतर पेयहं संचरंति।
जहिं दिट्ठि णय सरह अंधु जेम, तिहिं गास सुद्धि भणु होइ केम?
किमि कीड पयंगइ झिंगुराइं, पिप्पीलइ डंसइ मच्छराइं।
खज्जूरइ कण्णसलाइयाइ, अवरहं जीवइ जे बहु सयाइं।
अन्नाणी निसि भुंजंत एण, पसु सरसु धरिउ अप्पाणु तेण।
जं बालिवि दीवउ, करि उज्जोवउ, अहिउ जीउ संभवइ परा।
भमराइ पयंगइं, बहुविह भंगइं, मंडिय दीसइ जित्थु धरा॥ ५॥"

इसी रीति से कवि ने निशि भोजन की भयंकरता का निर्देश किया है और स्त्रियों को खासकर सम्बोधा है कि उन्हें रात्रि में अशन नहीं करना चाहिये।

"जा तिय रयणिहिं भोयणु करेइ, सा अप्पउ बहु पावह भरेइ।
उप्पज्जइ दालिद्दिय घरंमि, अहवा कोढिणिमि जम्मि जम्मि।

इसलिए :—

"जा उत्तम कुलि उप्पण्ण नारि, निम्मलु जिणभासिय धम्म धारि।
सा रयणिहि असणु न आयरेइ, आहारदाणु भावेण देइ॥"

कवि कहते हैं कि जो इस विधि को सुनेगा और पालन करेगा वह देवगति और मोक्ष का सुख प्राप्त करेगा।

"एहु अणथमिउ जो पढइं पढावइ, सो णरुणारि सुरालउ पावइ।
जो अखिलिउ अणथमिउ करेसइ सो णिव्वाण णयरि पयसेसइ॥"

अन्त इन छन्दों के साथ किया गया है :—

"वील्हा जंद्दू तणाएं जाएं, गुरुभतिए सरसइहिं पसाएं॥
अयरबालवरवंसे, उप्पण्णइ महहरियंदेण।
भतिए जिणु पणवेवि, पयडिउ पद्धड़िया छंदेण॥१६॥"

विद्याभूषण सूरिने—'भविष्यदत्तरास' रचा है जो श्री दि० जैन पंचायती मंदिर दिल्ली में है। इनकी एक अन्य रचना वसन्तनेमि का फाग है। भ० प्रतापकीर्ति का रचा हुआ 'श्रावकाचार रास' सं० (सं० १५७४) भी उक्त मंदिर के भंडार में है।

सत्रहवीं शताब्दि के आरंभ काल में ही श्री रायमल्लजी ने अपनी निम्नलिखित रचनायें रचीं थीं। उनके पश्चात् इस शताब्दि में और अनेक जैन कवियों के अस्तित्व का पता चलता है। निस्सन्देह यह शताब्दि मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य के उत्कर्ष में अपनी विशेषता रखती है। कविवर बनारसीदासजी सदृश महान् कवि इसी शताब्दि में हुये हैं। उन्होंने परिष्कृत हिन्दी में अपनी रचनायें रची थीं, किन्तु अभी तक ऐसे कवि भी मौजूद थे जो अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी में पद्य रचना रचते थे। ठीक आज

कल के समान ही उस समय की परिस्थिति थी। आज यद्यपि खड़ी बोली में पद्य रचना करने की शैली प्रचलित है; परन्तु व्रजभाषा में कविता करने वालों का सर्वथा अभाव नहीं है। इसी तरह उस समय यद्यपि संस्कृत हिन्दी को प्रधान पद प्राप्त था, परन्तु पुरानी अपभ्रंश-हिन्दी में लिखने की शैली विल्कुल वन्द नहीं होगई थी। इसके लिये ब्रह्मचारी रायमल्ल की रचनाओं को ही देखिये।

ब्रह्म० रायमल्लजी मूलसंघ शारदगच्छ के आचार्य रत्नकीर्ति के पट्टधर मुनि अनन्तकीर्ति के शिष्य थे। उन्होंने 'हनुमन्त चरित्र' की रचना वि० सं० १६१६ में की थी, जिसकी एक प्रति हमें दिल्ली के सेठ के कूचा के जैन मंदिर के भंडार से देखने को मिली है। ब्रह्म० रायमल्लजी की कविता साधारण और भाषा अपभ्रंश शब्दों से रिक्त नहीं है। उदाहरण देखिये—

"कूंकूं चंदन घसिवा घरणी, मांझि कपूर मेलि अति घणी।
जिणवर चरण पूजा करी, अवर जन्म की थाली धरी॥४१॥
'राय' भोग केतकी सुवास, सो भाविया वंदऊ जास।
जिणवर आगैं धरै पपालि, जाणि मुकति सिर बंधि पालि॥३२॥

× × ×

दिन गत भयो आथयो भाण, पंपी सब्द करै असमान।
मित्त सहित पवनंजै राय, मंदिर ऊपर बैठो जाय॥ ४४॥
देपै पंपी सरोवर तीर, करै शब्द अति गहर गहीर।
दसै दिसा मुप कालो भयो, चकहा चकिही अंतर लयो॥ ४४॥

× × ×

तासु सीष जिण चरणा लीण, ब्रह्म रायमल्ल मति करि हीण।
हंणू कथा कीयो [illegible] [illegible] [illegible] ॥७६॥

भणी कथा मन में धरि हर्ष, सोलह सै सोलह शुभ वर्ष।
रति वसंत मास वेशाख, नवमी सनि अंधारे पाष ॥७७॥"

पं० नाथूरामजी प्रेमीजी ने 'ब्रह्म रायमल्ल' को ही 'पांडे रायमल्ल' समझा है। इसका कारण यही हो सकता है कि उनके सन्मुख 'हणुमंत चरित्र' नहीं था। इस चरित्र में उन्होंने अपने को कहीं भी 'पांडे' नहीं लिखा है। सोलहवीं शताब्दि में हुये 'पिंगल' शास्त्र के रचयिता कविवर रायमल्लजी पांडे कहलाते थे और वह कविवर बनारसीदासजी से पूर्ववर्ती विद्वान् हैं। अतः कविवर बनारसीदासजी ने इन्हीं के लिये यह लिखा होगा कि "पांडे रायमल्लजी समयसार नाटक के मर्मज्ञ थे। उन्होंने समयसार की वालबोधिनी भाषा टीका बनाई जिसके कारण समयसार का बोध घर घर फैल गया।" समयसार सदृश आध्यात्मिक ग्रन्थ का बोध सर्वसाधारण में फैलना उस समय के वातावरण को वेदान्ती ज्ञान से प्रभावान्वित प्रकट करता है। सन्त और सूफी कवियों ने वेदान्त को आगे बढ़ाया था, यह हम पहले लिख चुके हैं।

बावा दुलीचंदजी की 'हि० जै० ग्रन्थ सूची' में इनके द्वारा सं० १६६३ में रचे गये "भविष्यदत्त चरित्र" का भी उल्लेख हैं। बाबू ज्ञानचंद्रजी ने भी अपनी 'दि० जैन भाषा ग्रंथ नामावली' (पृ० १) में इन दोनों ग्रन्थों को ब्र० रायमल्लजी कृत अङ्कित किया है।

प्रेमीजी ने अपने 'इतिहास' (पृ० ५०) में एक अन्य ब्र० रायमल्लजी का उल्लेख किया है, जो सकलचन्द्र भट्टारक के शिष्य थे और हूमड़ जाति के थे। उन्होंने सं० १६६७ में 'भक्तामरकथा' की रचना की थी। 'सीताचरित्र' भी शायद इन्हीं की रचना थी।

कवि ब्रह्मगुलाल चंद्वार (फिरोजाबाद, जिला आगरा) के पास टापू नामक ग्राम के निवासी पद्मावती पुरवाल जैन थे। उनका जीवनचरित्र कवि पुत्रपति ने लिखा है, जिससे प्रगट है कि वह दिगम्बर मुनि हो गये थे। उनकी रची हुई "कृपण जगावन कथा' अलीगंज के श्री शान्तिनाथ दि० जैन मंदिर के शास्त्र भंडार में हमें देखने को मिली है। दिल्ली के पंचायती मंदिर में भी इसकी एक प्रति है। यद्यपि इसकी रचना असाधारण नहीं है, परन्तु इसकी कथा बड़ी रोचक और सरस है। इसी कारण इस रचना में काव्यकी सरसता आ गई है। कवि ठकरसी के 'कृष्ण चरित्र' से इसका कथानक भिन्न हैं जिसे कवि ने किसी संस्कृत भाषा के कथा कोष से लिया है। मंगल पद्य इसके ज़रा देखिये—

"कुमति विभंजन सुमति करु, दुरितदलन गुणमाल।
सुमतिनाथ जिन चरण को, सेवकु ब्रह्म गुलाल॥"

× × ×

"सुमिरि सुमति जन मंगल धामा, विघटण विघण, करण सुपणामा।
बढे सुमति कवि सरें सुकाज, ध्यावहु कवि जन सब जिनराज॥"

इस ग्रन्थ की कथा का सार यह है कि राजगृह नगर में वसुपति राजा था। वहाँ ही एक सेठ की पुत्री रहती थी; जिसके जन्मते ही कुटुम्ब का नाश हो गया था। इसलिये लोग उसे क्षयंकरी कहते थे। एक दिन वसुपति राजा वरदत्त मुनीन्द्र की वंदना को पुरवासियों सहित गया। क्षयंकरी भी गई। मुनि अवधि ज्ञानी थे। उन्होंने क्षयंकरी की दुर्दशा का कारण उसका पूर्व संचित कर्म बताया। पहले एक भव में वह उज्जैन के सेठ धवल की पत्नी

मल्लि थी। उज्जैन के राजा पद्मनाथ ने आष्टाह्निक पर्व का उत्सव सार्वजनिक रूप में मनाया। धवल सेठ भी उसमें सम्मिलित हुये। सेठानी मल्लि कृपण थी। उसे यह न रुचा। जब उसे यह समाचार मालूम हुआ तो वह इस प्रकार सोचने लगी—

> "मल्ली सुनि मन चिंतइ आपु, किरपनता करि विढवै पापु।
> सेठ वचन मल्ली के कान, मनहु कठिन लगे उर वान॥
> पुरुष न जानै घर की रीति, घरु घरनी त्रिनु जाइ विनीत।
> इनकै कहत लागिये आजु, आगैं मोहि वहुतु है काजु॥
> ऐसा देव परम जो मोहि, तौं जह घरु चौपट्ट सो होइ।
> कीजै सो निवहै सो ठौर, आजु परचि का खैहें भोर॥
> ऊंचौ करि करु दीजै दानु, जौर घटे काहू को मानु।
> सो फिरि माई चेरी होइ, जह दुपु करै कौनु घरु पोइ॥
> जती व्रती सौं गहीये मौनु, बार बार दै गिधवै कौनु।"

किन्तु मल्ली सेठजी की आज्ञा को टाल न सकी। उसे पूजा के लिये सामग्री और पकवान बनाना पड़ा, परंतु उसने वड़ा सड़ा गला सामान जुटाया। जब सेठ मुनि आहार दें तो वहाँ उसने शुद्धाशुद्धि का विवेक न रखा बल्कि मुनियों के मलिन शरीर को देखकर घृणा की और अपने पति से निरंतर लड़ती रही। परिणामतः वह कोढ़िन हुई और नरक के दुख भोगने लगी। उधर वरदत्त मुनि ने एक अन्तर कथा कहकर यह निर्देश किया कि स्त्रियाँ ही कृपण नहीं होती, पुरुष भी कंजूस होते हैं। उन्होंने बताया कि कुंडल नगर में लोभदत्त सेठ रहते थे। कमला और लच्छा उनकी उदारमना स्त्रियाँ थीं। सौत थीं, पर कभी लड़तीं न थी। धर्म कर्म करने को सदा तत्पर रहती थीं। सेठजी महा

लोभी थे। भंडारे का और घर के द्वारे का ताला जकड़कर व्यापार के लिये जाते थे। कवि कहते हैं—

"जबहि होई जैवे की वार, जब घर दे जाहिं ठोकि किवार।
लोभदत्त घर सेठिनि दोइ, काटहिं जनमु झीपि झीपि रोइ॥
रातौ पहिर, ण तातौ पांहि, घर महु परी परी पछिताहिं।
जेठी कमला लहुरी लच्छा, तीजै औरु न घेरी बच्छा॥"

किन्तु सन्तोष का फल उन्हें मीठा मिला। एक दिन दो चारण मुनि उनके द्वार पर आ गये, जिनके पुण्य प्रभाव से द्वार खुल गये। सेठानियों ने अपना भाग्य सराहा, पर सेठ के कारण वे असमंजस में पड़ गईं। इस समय लच्छा बोली—

"लहुरी लच्छा कह्यौ सुनि माइ, घर आयौ मुनिवरु फिरि जाइ।
इह पछितायै मिटै न सल्लु, दूजो आजु बगर मह पल्लु॥
हां तीं करौ कि मारौ धाइ, हम नहिं चूकैं यैसी दांइ।
जह औसरु कहि कैसे फेर, मिल्यौ जो जिन अंध बटेर॥
जो अब करहिं सेठकी कानी, तौ वरत कौ आवै हानी।
मीठे वचन लच्छा के कहैं, कमला के मन सांचे रहैं॥"

दोनों ने मिलकर मुनियों को आहार दिया। मुनियों ने कृपा करके उन्हें आकाशगामिनी और बंधमोचनी विद्यायें बता दीं। अब तो जब सेठ उन्हें किवाड़ों में बंद करके चले जाते तो वह अपनी विद्याओं से काम लेतीं और मनमानी तीर्थयात्रा करती। एक दिन पड़ोसिन रूठकर आई और चुपके से उनके विमान में बैठ गई। सेठानी सहस्रकूट चैत्यालय की वंदना करने गईं। पड़ोसिन ने वहाँ खूब माणिक-मोती इकट्ठे किये और उनके साथ वापस घर आ गई। संयोग की बात पड़ोसिन ने रत्न लोभदत्त

सेठ के हाथ बेंचे। सेठ लोभी तो थे ही। उन्होंने पूछा, 'तू इन्हें जहाँ से लाई वह खानि मुझे भी बता दे।' पड़ोसिन रुपयों के लालच में राजी हो गई और सेठजी को चुपके से विमान की खुखाल में बैठा दिया। सेठानियाँ रत्नद्वीप के जिन मंदिरों की वंदना करने गईं। सेठ ने वहाँ खूब रत्न बटोरे, परन्तु फिर भी उनकी नीयत न भरी। लोभ तृष्णा को लिये हुये वह चुपके से विमान की खोल में बैठ गये, परंतु उनके पाप का घड़ा भर चुका था। अनहोनी हुई—

"जलनिधिं अंत प्रोहनु फटौ, भियौ कोलाहल बहु जन रटौ।
फेरि वदनु चितई सुकमाल, बूड़त तिनहिं शरण भई बाल॥
करि आकर्षु सकल उद्धरे, प्रोहन सहित उदधि तट धरे।
पोलो काठु दयौ छुटकाइ, लोभदत्तु सेठि विललाइ॥
हाइ हाइ करि परयौ मंझार, पेटु भर्यौ पारी जलधार।
पोटे ध्यान तजै निज प्राण, लोभदत्तु गए नरक निदान॥
लछिमी कहाँ? कहो को पाइ? लागे वहि कितहू मुकुयाइ।
लछिमी तनौ लाभ नहिं लेइ, होते भवन पाइ नहिं देइ॥
ताकी गति यह जानहु त्यान, लोभ दाजि मन तजे परान॥"

सेठानियों को जब सेठ के मरण का दुखद वृत्त ज्ञात हुआ तो उनके शोक का पार न रहा। आखिर वह उनका पति था। पर वे करतीं क्या? संतोष धारण किया और अपना सारा जीवन जिनेन्द्र पूजा करने और मुनियों को दान देने में बिता दिया। अन्त में सन्यासमरण करके वे देव हुईं। श्रावक धर्म की महत्ता को उन्होंने अपने आदर्श चरित्र से स्पष्ट कर दिया। इस कथा को कहकर वरदत्त मुनि ने बताया कि मल्ली सेठानी का जीव दुर्गति के दुख भुगत कर क्षयंकरी हुआ है। यदि क्षयंकरी श्रावक

व्रत पाले तो अपने पापों से छुटकारा पा सकती है। अंधे को दो नयन मिले। क्षयंकरी ने धर्म धारण किया और जिन पूजा करने और साधुओं की भक्ति करने में जीवन बिता दिया। समपरिणामों से शरीर त्याग कर वह स्वर्गों में देवता हुई। वसुपति राजा ने जब मूर्तिपूजा में शंका की तो आचार्य बोले:—

"जिम माला करि लींजै नामु, चित्र नारि देवै जिम वासु।
जिम कर दाण चलतु घात, कनक लोह जिम भूषण गात॥
जिम घट अछर घट कौ ज्ञानु, इमि देपै प्रतिमा जिन ध्यानु।
घट कारण घट की उत्पत्ति, पट कारण पटु उपजै सत्ति॥
प्रतिमा कारणु पुण्य निमित्त, विनु कारण कारज नंहिं मित्त।
प्रतिमा रूप परिणवै आपु, दोषादिक नहिं व्यापै पापु॥
क्रोध लोभ माया विनु मान, प्रतिमा कारण परिणवै ज्ञान।
पूजा करत होइ यह भाउ, दर्शन पाए गलै कपाउ॥"

यह चरित्र उस समय की सामाजिक दशा और धार्मिक विश्वास को प्रगट करने के लिये भी महत्त्व की चीज़ है। सन्त जन और सूफी लोग 'नाम' की रटना माला के आधार से करते थे। जब निर्जीव माला से प्रभु दर्शन हो सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि प्रभु की प्रत्याकृति से उनका भास न हो? एक ओर मूर्तिपूजा का विरोध था तो दूसरी ओर उसका समर्थन। यह ग्रन्थ ब्रह्मगुलालजी ने जिनेन्द्र की मूर्तिपूजा और मुनियों को आहारदान देने की पुष्टि में रचा था। इसकी प्रशस्ति निम्न प्रकार है:—

"सुनहु कथा तुम भव्य महान, जाहि सुनै मन बाढ़ै ज्ञान।
कृपन जगावन याकौ नांउ, पढ़ै गुणै ताकी बलि जांउ॥

जगभूषण भट्टारक पाइ, करौ ध्यानु-अंतरगति आइ।
ताकौ सेवगु ब्रह्म गुलाल, कीजी कथा कृपन उर सालु॥
मध्यदेश रपरी चंदवार, ता समीप टापू सुपसार।
कीरतसिंघ तहाँ धुर धरै, तेग त्याग को समसरि करै॥

यह मंडल कीनु गो-धीरु, कुल दीपक उपज्यो महि वीरु।
अति उदार कीनु जगदीस, जी जौ कुलकरु कोरि वरीस ॥(?)
मथुरामल्ल भतीजो उरु, धर्मदास कुल कौ सिरमौरु।
अति पुनीतु सुमानहु वयौ, कलि महुँ सेठि सुदरसनु भयौ॥

ता उपदेस कथा कवि करी, कवित चौपही सांचै ढरी।
ब्रह्म गुलाल गुरु नेकी छाह, पूरी भई जो रषिमाह॥
सोरह सै इकहत्तर जेठ, नुंमीहि दिवस सुमरि परमेठि।
कृष्ण पत्त शुभ शुक्कर वारु, साहि सलेम छत्र सिर भारु॥"

इस प्रशस्ति से स्पष्ट है कि कवि गुलालजी भ० जगभूषण के शिष्य थे। वह रपरीं और चंदावर गांवों के पास बसे हुए टापू गांवों में रहते थे। जो आजकल ज़िला आगरा के अन्तर्गत हैं। वहाँ का राजा कीरतसिंह था, जिसने कोसम (इलाहाबाद) का किला जीता था और इस मंडल को गौ रक्षक बनाया था। वहाँ ही धर्मदास के कुल में मथुरामल्लजी रहते थे। जो ब्रह्मचर्य-व्रत पालने में सेठ सुदर्शन के समान थे। कवि ने उन्हीं के उपदेश से यह ग्रन्थ संवत् १६७१ में रचा था। कवि एक सिद्धहस्त कलाकार थे। ब्रह्मगुलाल के रचे हुए अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं ; किन्तु हमारे देखने में नहीं आए हैं।

पं० अचलकीर्ति का रचा हुआ 'विषापहार स्तोत्र भाषा' सं० १९२३ के एक गुटका में लिखा हुआ मिला है। नमूना यह है:—

"विश्वनाथ विमल गुण ईश, विहरमान बंदौ जिन बीस।
गणधर गौतम शारद माइ, वर दीजै मोहिं बुद्धि सहाइ॥

× × × ×

पढै सुने जे परमानन्द, कल्पवृक्ष महा सुख कन्द।
अष्टसिद्धि नवनिधि सो लहै, अचलकीर्ति पंडित इम कहै॥"

इनकी एक रचना 'अठारहनाते' नामक है, जिसमें आपने अपना परिचय यों लिखा है—

"धर्म कीये धनि होत है, धर्म कीया धन होय।
अचलकीरति कवि यों कहै, धर्म करौ सब कोय॥
—काममहा० ॥५७॥

सहर पिरोजाबाद में हौं, नांता की चौढाल।
बार बार सब सौं कहौ हौं, सीपो धर्म विचार॥
—काम महाबली जी, सुन पिय चतुर सुजान ॥५८॥"

श्री दि० जैन पंचायती मन्दिर दिल्ली की प्रति में रचयिता का नाम कमलकीर्ति न मालूम किस तरह लिखा गया है।

पाण्डे जिनदास के रचे हुये 'जम्बूचरित्र' और 'ज्ञानसूर्योदय' नामक दो पद्य ग्रन्थ मिलते हैं। कुछ फुटकर पद भी हैं। 'जम्बूचरित्र' संवत् १६४२ में रचा गया था। उनके 'जोगीरासा' का नमूना देखिये—

"ना हौं राचौ णा हौं विरचौं, णा कछु भंति ण आणौ।
जीव सबै कुइ केवलज्ञानी, आप्पु समाणा जाणउ॥२१॥
मोह महागिरि षोदि बहाऊँ, इंदिय थूल न राषउ।
कंदर्प्प सर्प्प निदप्प करे बितु, विपय विपम विपु नाखौ॥२२॥

× × × ×

जोगीय रासौ सीषहु श्रावक, दोसु न कोई लीजै।
जो जिनदास त्रिविधि त्रिविधिहं, सिद्धहं सुमिरन कीजै ॥४२॥"

'जम्बूचरित्र'में कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है:—

"संवत तौ सोला सै भए, बयालीस ता ऊपर गये।
भादौं बदि पाँचै गुरुवार, तादिन कथा कियौ उच्चार ॥९१॥
अकबर पातस्याह का राज, कीनी कथा धर्म के काज।
भूल्यो बिसरयो अक्षर जहाँ, पंडित गुणी सवारो तहाँ ॥९२॥
कोई धर्मनिध पासा साहु, टोडर सुत आगरे सनाह।
ताके नाय कथा यह करी, मथुरा मैं जिहि निसही करी ॥९३॥
रिषभदास अरु मोहनदास, रूप मंगद अरु लछमीदास।
धर्मवृद्धि तुम ही यौ चित्त, राज करे परवार संजुत्त ॥९४॥
ब्रह्मचार भयौ संतीदास, ताके सुत पांडे जिनदास।
तिन या कथा करी मन लाय, पुन्य हेत मित नत वर ताहि ॥९५॥"

मुनि कणयंबर विरचित 'एकादस प्रतिमा' नामक रचना हमारे संग्रह के एक गुटका में है। उसके कुछ छन्द निम्न प्रकार हैं:—

"मुणिवरु जंपइ मृगणयणी, अंसजलोल्लिय-गग्गिरवयणी ॥
इंदिय कोमल दीहर नयणी, पहुकन ग्रंबर भणमिपई।
किं मइ लब्भइ सिवपुर रमणी, मुणिवरु जंपइ मृगणयणी ॥१॥
जइ तुहुं इंच्छहि वयणु संहोयरि, पंचुंवर फल वज्जहि सुंदरि।
सत्त उवसणा दूरि करि, जिण वरु सामिउं हियइं धरिज्जहि ॥
जइ सम्मत्तुवि णिम्मेलउ, तउ तुहुं चढ़हि सुदंसण पडिमा ॥२॥ मु०

× × × ×

पहु कणयंबर भणमिपई, इम इह लब्भइ सिवपुरि रमणी ॥ मु०

मालदेव-बड़गच्छीय भावदेव सूरि के शिष्य थे। इनके रचे हुए दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। पहला ग्रन्थ 'पुरन्दरकुमरचउपई,

नामक है, जिसे कवि ने सं० १६५२ में रचा था। इसकी एक प्रति सं० १८०९ की लिखी हुई अलीगंज के श्रीशान्तिनाथ दि० जैन मन्दिर के भण्डार में है और एक प्रति मुनि जिनविजयजी के पास है। मुनिजी ने इसे हिन्दी का ग्रन्थ माना है और इसकी रचना अच्छी और ललित बतायी है। वह लिखते हैं कि जान पड़ता है 'माल' एक प्रसिद्ध कवि हो गया है। गुजराती के प्रसिद्ध कवि ऋषभदास ने अपने 'कुमारपालरास' में जिन प्राचीन कवियों का स्मरण किया है, उनमें माल का नाम भी है।" (हि०जै०इ०पृ० ४४-४५) निस्सन्देह कवि माल की रचना प्रसादगुणसम्पन्न है। उनका वसन्त ऋतु का वर्णन देखिये—

"मंजरि मुख सहकारसु, लेउ आयउ जनु पुत्र।
जहि सिसिर विधिना दियउ, अब बसन्त सिरि क्षत्र ॥२२॥
वारी वन फूले सकल, कुसुमवास सहकार।
ऋतु वसन्त आगम भयउ, पिक बोलै जइकार ॥२३॥
मलय सुगंध पवन बहइ, सींहइ सकमल नीर।
लागइ दिवसे सुहामण, चंगइ तनि मनि धीर ॥२४॥
अगर तगर धन अंब, निंब कदंब जंभीरी।
सींवल सालइं जंबु, अज्जुंन खदिर खजूरी ॥२५॥
वकुल ताल हि तालवेत सयनस विजउरी।
अक्षप लक्ष अपरोट, वट अंकोल समउरी ॥२६॥

× × ×

कहइ सीप जनु अंब चढि, पिक बोलंती एह।
भोगी मिलि क्रीडा करइ, जोवन फल किन लेइ ॥३८॥"

दूसरा ग्रन्थ 'भोजप्रबन्ध' भी उक्त मुनिजी के पास है। प्रेमीजी ने उसे देख कर लिखा था कि 'इसकी भाषा प्रौढ़ है,

परंतु उसमें गुजराती की झलक है और अपभ्रंशशब्दों की अधिकता है। वह ऐसी साफ नहीं है जैसी उस समय के बनारसीदासजी आदि कवियों की है। कारण, कवि गुजरात और राजपूताने की बोलियों से अधिक परिचित था। वह प्रतिभाशाली जान पड़ता है। कोई कोई पद्य बड़े ही चुभते हुए हैं :—

"भल्लउ हुअउ जइ नीसरी, अंगुलि सप्पि-मुहाहु।[1]
ओछे सेती प्रीतड़ी, जदि तुट्टइ तदि लाहु ॥९१॥"

सिन्धुल लौट कर जब राजा मुंज के समीप आया, तब मुंज कपट की हँसी हँसकर उसके गले से लिपट गया। इसको लक्ष्य करके कवि कहता है:—

"धूरत राजा मुंज पणि, मिल्लउ उठि गलि लागि।
को जाणइ घन दामिनी, जल महिं आछइ आगि ॥१२०॥
घणु वरसइ सीयल सलिल, सोई मिलि हइ विज्जु।
गरुयहँ तूसइँ जीवयइ, रूठइँ विणसह वज्ज ॥१२१॥"

"इस ग्रन्थ की यह बात नोट करने लायक है कि इसमें हिन्दी के दोहों को 'प्राकृतभाषा दोहा' लिखा है। मालूम होता है उस समय हिन्दी उसी तरह प्राकृत कहलाती होगी जिस तरह बम्बई की ओर इस समय मराठी 'प्राकृत' कहलाती है।" (हि० जै० इ० पृ० ४६-४७)

श्रीभगवतीदासजी की रचनायें श्री दि० जैन बड़ा मंदिर मैनपुरी के शास्त्रभंडार में विराजमान सं० १६८० के लिखे हुये गुटका में लिपिबद्ध हैं। आप प्रसिद्ध कवि भैया भगवतीदासजी से भिन्न और पूर्ववर्ती हैं। सं० १६८० का उपर्युक्त गुटका उन्हीं

---

[1] सर्प के मुँह से

के हाथ का लिखा हुआ है। उस समय उन्होंने जहाँगीर बादशाह का राज्य लिखा है और अपने को काष्ठासंघी माथुरान्वयी पुष्कर-गणीय भ० सकलचंद्र के पट्टधर मंडलाचार्य माहेन्द्रसेन का शिष्य बताया है। यह गुटका उन्होंने संचिका (संकिशा?) में लिपि-बद्ध किया था। वह अग्रवाल दि० जैन थे ❀ और अनेक स्थानों में रहकर उन्होंने धर्मसाधन किया था। वैसे वह सहजादिपुर के निवासी थे, परंतु संकिसा और कपिस्थल (कैथिया?) में आकर रहे थे, जो जिला फर्रुखाबाद में हैं। इनकी रचनाओं की भाषा अपभ्रंश प्राकृत के शब्दों से रिक्त नहीं है। इन्होंने (१) टंडाणारास, (२) वनजारा, (३) आदित्तिव्रतरासा, (४) पखवाडे का रास, (५) दशलाक्षणी रासा, (६) अनुप्रेक्षा-भावना, (७) खीचड़ी-रासा, (८) अनन्तचतुर्दशी चौपाई, (९) सुगंधदसमीकथा, (१०) आदिनाथ—शान्तिनाथविनती, (११) समाधीरास, (१२) आदित्यवारकथा, (१३) चुनड़ी—मुकतिरमणी, (१४) योगीरासा, (१५) अनथमी, (१६) मनकरहारास, (१७) वीरजिनेन्द्रगीत, (१८) रोहिणीव्रतरास, (१९) ढमालराजमती नेमीसुर और (२०) सज्ञानी ढमाल नामक रचनायें रचीं थीं, जो उपर्युक्त गुटकामें लिपिबद्ध हैं। इनके अतिरिक्त आपकी एक अन्य रचना मृगांकलेखाचरित्र का पता आमेरभंडार की सूची से चलता है। "जैन-सिद्धान्तभास्कर" (भा० ४ किरण ३ पृ० १५७-१८४) में हमने इन सब रचनाओं का खास परिचय करा दिया है। इनमें 'ढमाल' छन्द की कृतियाँ उस समय की एक विशेष

❀ गुरु मुणि माहिंदसेण-चरण नमि रासा कीया।
दास भगवती अगरवालि जिणपद मनु दीया॥

रचना है, जिसे लोग संभवतः कीर्तन की तरह गाया करते थे। उसमें संगीत की स्वरलहरी का ध्यान रक्खा गया है। संभव है कि राधेश्यामजी की 'रामायण' की तरह उस समय ढमालशैली की रचनाएँ जनसाधारण के लिये शिक्षा के साथ-साथ मनोरंजन की चीज थी। लोग उन्हें जयकार के साथ गाते थे। इसका उदाहरण देखिये—

"पंच परम गुरु बंदिवि, करि सारद जयकारु।
गुरुपद-पंकज पणमौं, सुमति-सुगति-दातारु॥
सोरठि देस भला सब देसनि मइ परधानु।
महि मंडलु इउं राजति जिउं नभ-मंडलु भानु॥

× × × ×

कोटि जतन कोई करिहौ जीवन तौ नित नाहिं।
तनु-धनु-जीवनु विनसइ, कीरति रहइ जग मांहि॥६०॥
मुनि महेन्द्रसेन गुरु तिंह जुग चरन पसाइ।
भापत दास भगवती, थांनि कपिस्थलि आइ॥६१॥
नर नारी जे गावहिं सुणहि, चतुर दे कानु।
भोगवि सुर-नर सुह-फल, पावहि सिवपुर थानु॥६२॥"

कवि भगवतीदास की कविता में आकर्षण है—वह जनसाधारण के मनको मोहनेवाली है और उन्हें अध्यात्म-रसका पान कराती है। काम-शत्रु को जीतने के लिये वह खूब कहते हैं—

"जगमहिं जीवनु सपना, मन, मनमथु पर हरिये।
लोहु-कोहु-मद-माया, तजि भवसायर तरिये॥"

(सज्ञानी ढमाल)

कवि की दृष्टि में सच्चा योगी कौन है? यह भी देखिये—

"पेपहु हो! तुम पेपहु भाई; जोगी जगमहिं सोंई।
घट-घट अन्तर बसइ चिदानन्दु, अलपु न लपई कोई॥
भव-वन भूलि रह्यौ अमिरावलु, सिवपुर सुधि विसराई।
परम अतिंदिय सिव सुपु तजिकर, विषयनि रहिउ लुभाई॥"

(योगीरासा)

अब कविके सुभाषित नीति-पद्य भी पढ़िये—

"जिण विणु जपु नवि सोहइ, तपु नवि बंभ विनां।
तप विणु मुणि नवि सोहइ, पंकजु अम्भ विनां॥
समकित विणु वरतु न सोहइ, संजमु धम्म विनां।
दया विणु धम्म न सोहइ, उदिमु कर्म विनां॥"

(खिचड़ीरासु)

'अनुप्रेक्षा-भावना' में अनित्यत्व का चित्रण कवि की प्रतिभा का द्योतक है। देखिये—

"अवधू ! जाणिए होधू, किछु देपिअ नाहिं।
किउं रुचि मानि एहो, विहुडइ जो षिणमांहि॥
पिणमांहि जांहि विलास मंदिर, बंधु-सुत-वित अतिघणा।
जल-रेह-देह-सनेहु-तिय, दामिनि-दमक जिउं जोवनां॥
जिस हति जात न वार लागई, बुलबुला जल पेपिए।
अवधू! परीक्ष कहौ जिअ, सिउ-धून किछु जगि देपिए?"

कवि की 'बनजारा' शीर्षक कविता जनसाधारण के लिये बड़ी रोचक रही होगी। कवि ने उसे भी अध्यात्मरस की मादकता से भर दिया है। प्रारंभ के दो-तीन पद्य देखिये—

"चतुर बनजारे हो! नमणु करहु जिणराइ,
सारद-पद सिर ध्याइ, ए मेरे नाइक हो॥१॥

चतुर बनजारे हो ! काया नगर मंझारि ,
चेतनु बनजारा रहइ मेरे नाइक हो ।
सुमति-कुमति दो नारि, तिहि संग
नेहु अधिक गहइ, मेरे नाइक हो ॥२॥
चतुर बनजारे हो ! तेरइ म्रिगनैनी तिय दोइ ,
इक गोरी इक सांवली, मेरे नाइक हो ।
तेरे गोरउ काज सुलोइ, सांवल हइ
लड़वावली, मेरे नाइक हो ॥३॥"

इत्यादि ।

सारांशतः कवि भगवतीदास की सब ही रचनायें समष्टि को लक्ष्य करके लिखी गई हैं। कवि की भावना यही रही है कि जनता का अधिक-से-अधिक उपकार हो ।

कवि सालिवाहन भदावर प्रान्त में कंचनपुर नगर के अधिवासी थे। वहाँ लंवेचू जैनी अधिक संख्या में रहते थे और हरिसिंहदेव नाम का राजा राज्य करता था। कविके पिता रावत षरगसेन थे और उनके गुरु भ० जगभूषण थे। सं० १६९५ में कवि ने आगरे में 'हरिवंश पुरान' की रचना की थी। वह श्री जिनसेनाचार्यकृत संस्कृत भाषा के 'हरिवंशपुराण' का पद्यानुवाद है। कविनें स्वयं कहा है कि "जिनसेनु पुरानु सुनौ मैं नाम— ताकी छाया लै चोपई करी।" वस्तुतः इसमें प्रायः चौपई छंद का ही ओत-प्रोत प्रवाह है। कविता साधारण है। प्रारंभ का छन्द देखिये—

"प्रथम वंदि श्री रिषभ जिणंद, जा सुमरंतहि होय आनंद ।
बंदू गणधर सरस्वती माय, जा प्रसाद बहु बुधि पसाय ॥१॥"

कवि सालिवाहन हिन्दी को 'देवगिरा' भाषा कहकर सम्बोधित करते हैं, इससे अनुमान होता है कि उस समय आगरा में हिन्दी पूज्य भाव से देखी जाती थी।

पांडे हरिकृष्णजी मुनि विनयसागर के शिष्य थे। उन्होंने 'चतुर्दशीव्रतकथा' संवत् १६९९ में रची थी। नमूना देखिए—

"रस[९] रस[९] भूधर[६] मही[१] सो जोई, श्रावण शुक्ल आठै दिन होई।
विनयसागर की आज्ञा करी, हरिकृष्ण पांडे चित मै धरी॥"

इनकी और भी रचनाएं मिलती हैं। यह यमसारनगर के निवासी थे।

पं० वनवारीलालजी माखनपुर के निवासी थे। उन्होंने खतौली के चैत्यालय में बैठकर 'भविष्यदत्तचरित्र' की रचना संवत् १६६६ में की थी। कवि धनपाल के अपभ्रंश प्राकृत भाषामें रचे हुए 'भविष्यदत्त चरित्र' का इसे पद्यानुवाद समझना चाहिये। कविता साधारण है। वणिक् पुत्र भविष्यदत्त अपने हस्तिनापुरवाले राजा के शत्रु से लड़ने का बीड़ा चबाता है। नरपति सशङ्क होता है, और उत्तर में कहता है—

"रण संग्राम पीठ नहिं देउं, हांको सुभट जगत यश लेउं।
परचक्री आन लगाऊं पाय, तो मुंह दिखाऊं तुझको आय॥"

जो कहा वही उस वणिक्-वीर ने कर दिखाया –

"रण संग्राम भिड़े सो जाय, पायक लाग्या पायक आय।
गयवर सों गयवर भिडैं, रथ सेती रथही सो जुड़ैं॥
रणधर आगै भागै वीर, कोलाहल सेनाहु गहीर।
अती मुडी पोदनपुर राय, उलटा दल भाग्या सो जाय॥

भविष्यदत्त ने उसे बंदी बनाया और हस्तिनापुर-भूपाल के चरणों में लाकर डाल दिया—

"जहां बैठा जु नरिंद भोपाल, चरणे ले मेल्हा ततकाल।
राय भौपाल आनंद मन भया, बहु सन्मान भविस का किया॥"

गुण-गौरव भला कब किसके हाथ बिका ?

कल्याणदेव श्वेताम्बर साधु जिनचन्द्र सूरि के शिष्य थे। इनका एक ग्रन्थ 'देवराज-बच्छराजचौपई' उपलब्ध है, जिसे उन्होंने सं० १६४३ में विक्रम नामक नगर में रचा था। इसमें एक राजा के बच्छराज और देवराज नामक दो पुत्रों की कहानी लिखी गई है। यद्यपि बच्छराज बड़ा था, परंतु मूर्ख था, इसलिये राज्य देवराज को मिला। बच्छराज घर से निकल गया। कष्टों को सहन करते हुए उसने अपनी उन्नति की और वापिस घर आया। भाई ने उसकी परीक्षाएँ ली; बच्छराज उत्तीर्ण हुआ और आधे राज्य का स्वामी हुआ। प्रेमीजी ने इस ग्रंथ को देखा है और वह इसकी रचना साधारण बताते हैं। भाषा में, अन्य श्वेताम्बर रचनाओं की तरह, इसमें भी गुजराती भाषा का मिश्रण है। उदाहरण देखिये:—

'जिणवर चरण कमल नमी, सुह गुरु हीय धरेसि।
समरयां सवि सुख संपजइ, भाजइ सयल कलेसि॥"

हेमविजय* एक अन्धे विद्वान् और कवि थे। इनके गुरु सुप्रसिद्ध आचार्य हरिविजय सूरि थे। संस्कृत भाषा में 'कथा रत्नाकर' आदि कई सुन्दर ग्रन्थों का इन्होंने प्रणयन किया है।

* हि० जै० इ०, पृ० ४७-४८

हिन्दी में इनकी छोटी छोटी पद्यरचनाएँ मिलती हैं। उदाहरण-स्वरूप नेमिनाथ तीर्थंकर का स्तुति पद्य देखिये—

"घनघोर घटा उनयी जु नई, इततैं उततैं चमकी बिजली।
पियुरे पियुरे पपिहा बिललाति जु, मोर किंगार करंति मिली॥
बिच बिंदु परें दृग आंसु झरें, दुनि धार अपार इसी निकली।
मुनि हेमके साहिब देखन कूँ, उग्रसेन लली सु अकेली चली॥"

रूपचन्दजी कविवर बनारसीदासजी के समय आगरे में हुए हैं। बनारसीदासजी ने इन्हें बहुत बड़ा विद्वान् बताया है। निस्सन्देह रूपचंदजी जैनधर्म के अच्छे मर्मज्ञ थे। उनके 'परमार्थीदोहाशतक' से रूपचंदजी का आध्यात्मिक पाण्डित्य झलकता है। प्रेमीजी ने बहुत दिन हुये जब अपने 'जैनहितैषी' पत्र में उन्हें प्रकाशित किया था और वह इनकी सम्मति में एक उच्च कोटि की रचना है।' उदाहरण के लिए देखिए—

"चेतन चित् परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ।
कन बिन तुस जिमि फटकतैं, आवै कछू न हत्थ॥
चेतन सौं परिचय नहीं, कहा भये व्रत धारि।
सालि विहूनैं खेत की, वृथा बनावत वारि॥
बिना तत्त्व परिचय लगत, अपरभाव अभिराम।
ताम और रस रुचत हैं, अमृत न चाख्यौ जाम॥
भ्रम तैं भूल्यौ अपनपौ, खोजत किन घट मांहि।
बिसरी वस्तु न कर चढै, जो देखै घर चाहि॥"

किस खूबी से प्रत्येक दोहे में जो बात पहले कही है, उसकी पुष्टि उदाहरण द्वारा उत्तरार्द्ध में की है। सभी दोहे इसी प्रकार के बड़े सुन्दर हैं। 'गीतपरमार्थी' भी उनकी रचना बतलायी

जाती है, परन्तु वह अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। प्रेमीजी को कुछ फुटकर गीत मिले हैं, उन्हें वह इसी का अनुमान करते हैं। एक गीत का निम्नलिखित पद उन्होंने उदाहरण में उपस्थित किया था—

> "चेतन, अचरज भारी, यह मेरे जिय आवै।
> अमृत वचन हितकारी, सद्गुरु तुमहिं पढ़ावै॥
> सद्गुरु तुमहिं पढ़ावै चित दै, अरु तुमहू हौ ज्ञानी।
> तबहू तुमहिं न क्योंहूँ अवै, चेतन तत्त्व कहानी॥
> विषयनि की चतुराई कहिए, को सरि करै तुम्हारी।
> बिन गुरु फुरत कुविद्या कैसें, चेतन अचरज भारी॥"

रूपचंदजी का 'मंगलगीतप्रबंध' जैन समाज में 'पंचमंगल' के नाम से बहुत ही प्रचलित है। इसकी रचना उत्तम है।

श्री अंजनासुंदरीरास सत्रहवीं शताब्दी की रचना है। तपागच्छ में श्रीहरिविजयजी सूरि के परम्पराशिष्य श्री विद्याहर्षसूरि हुए और उसके शिष्य गणि महानन्द। उन्होंने इस रास-ग्रन्थ को रायपुर नगर में संवत् १६६१ में रचा था। इसकी भाषा में गुजराती भाषा के शब्दों का बाहुल्य है। इसलिये इसे हम गुजराती मिश्रित हिन्दी कह सकते हैं। मालूम होता है कि गणि महानन्दजी गुजरात के अधिवासी थे। उनकी रचना प्रसाद-गुण-सम्पन्न है। श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा में इसकी एक प्राचीन प्रति मौजूद है। इस प्रति में कुल २२ पत्र हैं। रचना का नमूना देखिये:—

> "फूलिय वनइ वनमालीय वालीय करइं रे टकोल।
> करि कुंकम रंग रोलीय घोलीय झकम झोल॥

खेलइ खेल खंडो कली मोकली सहींयर साथ[1]।
अंजनासुंदरी सुंदरी मंजरी ग्रहीं करी हाथ ॥५४॥
मधुकर करइं गुंजारव मार विकार वहंति।
कोयल करइं पटहूकड़ा टूकड़ा मेलवा कंत ॥
मलयाचल थी चलकिउ पुलकिउ पवन प्रचंड।
मदन महानृप पाझइ विरहीनिं सिर दंड ॥५५॥
गुणिं समइं नंदीसर वरइं सुरवर जाइ यात्र।
दीसह गयण वहंता कर गृही कुसुमनां पात्र ॥[2]

× × ×

इणि परिगायु अंजना, सुंदरी नंदन धीर।
द्रव्य भाव वेरी प्रबल, जिण जीत्या जग बड़ वीर ॥
चरम शरीरी सुगुण नर, गातां होइ आणंद।
द्यइ[3] मन वंछित संपदा, इम बोलइ गणि महाणंद ॥"

प्रशस्ति में कवि ने लिखा है कि हीरविजयजी ने अकबरशाह को प्रतिबोधा था और श्रीविजयसेन गणि ने अकबर के दरबार में भट्ट नामक विद्वान् को बाद में परास्त किया था। इसके उपलक्ष्य में अकबर ने अमारि घोषणा की थी:—

"श्रीविजयसेन गणधार रे ॥ विस्ता० ॥
जिणि शाहि अकबर नी सभा मांहि भट्ट सुं रे कीधो कीधो बादुअभंग रे।
मिथ्यामतरेपडी करी रे जिणि गव्यु गव्यु जिन शासनि रंग रे ॥११॥
गाय-वृषभ-महिषादिक जीवनी रे, कीधी कीधी नित्य अमारि रे।
वंदि नकालइ को गुरुवयण थीरे, द्रव्य अपूत्र नुं दारि रे ॥ १२ ॥"

---

१. सखी के साथ भेज करके। २. गमन में जाते हुये हाथों में कुसुमपात्र लिए दिखायी दिये। ३. दो।

प्रशस्ति से यह भी प्रकट है कि विवेकहर्ष पंडित ने अपने गुरु की आज्ञा से कच्छमंडल में विहार किया था और वहाँ के भारामल्ल राजाको प्रतिबोधा था। अन्त में रचनाप्रसंग का उल्लेख निम्न प्रकार है :—

"तास चरण सुप्रसादिं विद्याहरपसुं रे पामी पामी रच्यो बे कर जोड़िरे।
रायपुर नगरि अंजनासती तणो रे, रास आयइ आयइ मंगलकोडिरे॥
चंद्रकला रस गगना संवच्छर जाणरे, श्री हणुमंत जननी रासरे।
रंगिरे रंगिरे गणि महाणंद इम वीनवइरे, सुणतां सुणतां पहुवइ मननी आसरे॥

कविवर बनारसीदास जी इस शताब्दि के ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण हिन्दी जैनसाहित्यसंसार के एक अद्वितीय कवि थे। हमें तो उनको 'राष्ट्रकवि' अथवा 'विश्वकवि' कहने में भी संकोच नहीं है। जो राष्ट्र के सम्मुख एक आदर्श रक्खे, उसकी गतिविधि को पलटने का ही उद्योग करे उसे 'राष्ट्रकवि' कहना ही चाहिये। 'कविवर बनारसीदासजी का केवल एक वही पद, जिसका प्रारंभ 'एक रूप हिन्दू तुरुक दूजी दशा न कोइ' से होता है, उनकी राष्ट्रीयता को व्यक्त करने के लिये पर्याप्त है। हिन्दू और मुसलमान 'दोऊ भूले भरम में' और इसीलिये वह 'भये एक सों दोइ'। कविवर उन्हें आध्यात्मिक रूप सुझा कर एक होने का उपदेश देते हैं और उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा इस आध्यात्मिक एकता का ही प्रचार किया है। इतना ही क्यों? कविवर की आत्मा 'वसुधैव-कुटम्बकम्' की नीति के रंग में रंगी हुई थी। उनको राष्ट्रहित करने में ही सन्तोष कैसे होता? कवीन्द्र रवीन्द्र इस शताब्दि के 'विश्वकवि' इसीलिये कहलाये कि उन्होंने विश्व को आत्मकल्याण के लिये विश्वप्रेम का सन्देश दिया। कविवर बनारसीदासजी ने

भी लोक को भुलाया नहीं। उनकी दृष्टि में लोक का प्रत्येक सचेतन जाज्वल्यमान परमात्म-ज्योति से व्याप्त था। वह लोक से कहते हैं कि—

"मेरे नैनन देखिये, घट घट अन्तर राम।"

परन्तु लोक ने तो अपनी आँखों पर अज्ञान की पट्टी बाँध रक्खी है; वह कवि के बताये हुये सत्य को कैसे चीन्हे ? स्वयं कविवर ही उसकी इस दयनीय दशा का चित्रण निम्नलिखित पद्य में करते हैं:—

"पाटी बँधे लोचन सों संकुचे दबोचनि सों,
कोचनि को सोच सो निवेदे खेद तन को।
धाइबो ही धंधा अरु कंधा मांहि लग्यो जोत,
बार बार आर सहै कायर है मन को॥
भूख सहे प्यास सहे दुर्जन को त्रास सहे,
थिरता न गहे न उसास लहे छिनको।
पराधीन घूमै जैसो कोल्हु को कमेरो बैल,
तैसोई स्वभाव भैया जगवासी जनको॥"

लोक पराधीनता की शृङ्खलाएँ तोड़ कर जब आत्मस्वान्तत्र्य प्राप्त करता है, तभी वह सुखी होता है। यह जागृतावस्था ही उसके लिये सुखकर है—

"जब चेतन मालिम जगै, लखै विपाक नजूम।
डारै समता शृंखला, थकै भँवर की घूम॥"

जो कवि समदृष्टि को ही जागृति का परिणाम बताता है, उसे क्यों न क्रान्तिवादी विश्वकवि कहा जाय ? निस्सन्देह कविवर

बनारसीदासजी एक महान् क्रान्तिवादी सुधारक विश्वकवि थे। वह सारे विश्व की हितकामना के रंग में रंगे हुए थे।

पं० नाथूरामजी प्रेमी ने कविवरजी के विषय में लिखा है कि इस शताब्दी के जैनकवि (यों) और लेखकों में हम कविवर बनारसीदासजी को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। यही क्यों, हमारा तो ख्याल है कि जैनों में इनसे अच्छा कोई कवि हुआ ही नहीं। ये आगरे के रहनेवाले श्रीमाल वैश्य थे। इनका जन्म माघ सुदी ११ सं० १६४३ को जौनपुर नगर में हुआ था। इनके पिता का नाम खरगसेन था। ये बड़े ही प्रतिभाशाली कवि थे। अपने समय के ये सुधारक थे। पहले श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे, पीछे दिगम्बर सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गए थे; परन्तु जान पड़ता है, इनके विचारों से साधारण लोगों के विचारों का मेल नहीं खाता था। ये अध्यात्मी या वेदान्ती थे। क्रियाकाण्ड को ये बहुत महत्त्व नहीं देते थे। इसी कारण बहुत से लोग इनके विरुद्ध हो गये थे। यहाँ तक कि उस समय के मेघविजय उपाध्याय नाम के एक श्वेताम्बर साधुने उनके विरुद्ध एक 'युक्तिप्रबोध' नाम का प्राकृत नाटक ही लिख डाला था, जो उपलब्ध है। उससे मालूम होता है कि इनको और इनके अनुयायियों को उस समय के बहुत से लोग एक जुदा ही पन्थ के समझने लगे थे।* उनका यह मत 'बानारसी' या 'अध्यात्मी' कहलाता था। उस युग की मांग उसे कहना चाहिये। वैसे कविवरजी ने उसमें जैनधर्म के एक पक्षविशेष को मुख्यता देने के अतिरिक्त कोई नई बात नहीं फैलायी थी। वह सारे जगत् को 'अध्यात्मी' बनाकर विश्व को

---

* हि० जै० सा० इ० पृ० ३८।

एक कुटुम्ब में परिणत हुआ देखने की अभिलाषा रखते थे। यह उनकी महत्ता और विशालहृदयता का द्योतक है।

आगरा उस समय अध्यात्मरसरसिक विद्वानों का केन्द्र था। कविवरजी भी वहाँ अधिक समय तक ज्ञानगोष्ठी करते हुये रहे थे। सहयोगी विद्वानों में पं० रूपचंदजी, चतुर्भुजजी वैरागी, भगवतीदासजी, धर्मदासजी, कुँवरपालजी और जगजीवनजी विशेष उल्लेखनीय हैं।[1] पं० रूपचंद्रजी 'गीतपरमार्थी' आदि रचनाओं के रचयिता कवि हैं, जिनका परिचय अन्यत्र लिखा गया है। श्री चतुर्भुजजी वही प्रतीत होते हैं जिनका उल्लेख कवि खरगसेन ने अपने 'त्रिलोकदर्पण' में किया है और उन्हें 'वैरागी' लिखा है। मालूम होता है कि वह एक उदासीन विद्वान् अध्यात्मी पंडित थे। वह अक्सर लाहौर जाया करते थे और वहाँ के जिज्ञासुओं को अध्यात्मरस का पान कराते थे। भगवतीदासजी जैन साहित्य के प्रसिद्ध कवि भैया भगवतीदास से भिन्न व्यक्ति हैं और यह वह कवि प्रतीत होते हैं जो मुनि महेन्द्रसेन के शिष्य थे और सहजादिपुर के रहनेवाले अग्रवाल वैश्य थे। उनकी रचनाओं का परिचय पहले लिखा जा चुका है। धर्मदासजी शायद वे ही हैं जिनके साझे में बनारसीदासजी ने कुछ समय तक

---

१. "नगर आगरा मांहि विख्याता, कारन पाइ भये बहु ज्ञाता।
पंच पुरुष अति निपुन प्रवीने, निशिदिन ज्ञानकथा रस भीने ॥१०॥
रूपचंद पंडित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम।
तृतिय भगौतीदास नर, कौरंपाल गुनधाम ॥११॥
धर्मदास ए पंच जन, मिलि बैसें इक ठौर।
परमारथ चरचा करें इन्हके कथा न और ॥१२॥"
— समयसार नाटक भाषा।

जवाहरात का व्यापार किया था और जो जसू अमरसी ओसवाल के छोटे भाई थे।[1] कुँवरपालजी बनारसीदासजी के अभिन्न-हृदय मित्र थे। 'सूक्तिमुक्तावली' का पद्यानुवाद कविवर ने उनके साथ मिलकर किया था। जगजीवनजी भी आगरे के रहनेवाले विद्वान् थे। 'ज्ञानियों की मंडली में उनका भी विकास था।' सं० १७०१ में बनारसीदासजी की सभी फुटकर रचनाओं का संग्रह 'बनारसीविलास' नाम से किया था[2]। सारांशतः आगरा उस समय साहित्य और ज्ञान का केन्द्र बना हुआ था।

यद्यपि कविवर बनारसीदासजी का जन्म एक धनी और सम्मान्य कुल में हुआ था, परन्तु उनके भाग्य में चैन से रहना नहीं बदा था। धन के लिए वह प्रायः जीवन भर दौड़-धूप करते रहे, परन्तु फिर भी कष्टों से मुक्त न हुए। उनका विवाह केवल ग्यारह वर्ष की छोटी उम्र में हुआ था और आठ वर्ष की अवस्था से उन्होंने विद्या पढ़ना प्रारंभ कर दिया था। यद्यपि उन्होंने कुछ अधिक नहीं पढ़ा था, परन्तु अपनी स्वाभाविक प्रतिभा के कारण आगे चलकर वह एक अच्छे विचारक और सुकवि हो गये थे। कवित्व-शक्ति तो उन्हें प्रकृति-प्राप्त थी। यही कारण है कि उन्होंने चौदह वर्ष की अवस्था में ही एक हजार दोहा-चौपाइयों का नवरस ग्रन्थ बना डाला था, जिसे उन्होंने आगे चलकर गोमती में बहा दिया था। वह संस्कृत प्राकृत के अतिरिक्त अनेक

---

१. अर्धक०, पृ० ८१.

२. जगजीवनजी ने स्वयं लिखा है :—

"समै जोग पाइ जगजीवन विख्यात भयो।
ज्ञानिन की मंडली में जिसको विकास है ॥"

देशी भाषायें भी जानते थे। उनके विषय में कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, जिनपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। किन्तु इसमें शक नहीं कि कविवर जहाँगीर बादशाह और महाकवि तुलसीदासजी के समकालीन थे और यह संभव है कि उनका परस्पर साक्षात्कार हुआ हो। 'ज्ञानी पातशाह ताको मेरी तसलीम है'—कवि का यह चरण बादशाह जहाँगीर के सम्पर्क में किसी रूप में आने की सम्भावना प्रकट करता है। हो सकता है कि बादशाह जहाँगीर ने उनसे सलाम करने के लिये कहा होगा अथवा उनकी आध्यात्मिकता की वार्ता सुनकर उन्हें बुला भेजा होगा और तब कविवर ने शिष्टाचार निभाने के लिये उक्त चरण वाला पद्य रचकर कहा होगा।

इसी प्रकार महाकवि तुलसीदासजी से भी साक्षात्कार होना निरा असंभव नहीं है। जब सं० १६८० में गोस्वामी तुलसीदासजी दिवंगत हुये थे, उस समय कविवर की अवस्था ३७ वर्ष की थी। उस समय वह अवश्य ही प्रतिभाशाली अनुभवी कवि हो गये थे। किन्तु आश्चर्य है—साक्षात्कार का उल्लेख कहीं नहीं है। यदि वह परस्पर मिले होते तो उसका उल्लेख कहीं न कहीं मिलना चाहिए था। इनके जीवन में समानता भी दृष्टिगोचर होती है—दोनों महाकवि यौवनागम पर मत्त हुए मिलते हैं। तुलसीदासजी अपनी स्त्री के प्रेम में अंधे हुये, तो बनारसीदासजी इश्कबाजी में फँस गये। दोनों कवियों को महामारी रोग के प्रकोप का भी कटु अनुभव था। दोनों की कविताओं में भी साम्य है। कविवर बनारसीदासजी जिनवाणी की स्तुति में कहते हैं—

"सुधाधर्मसंसाधनी धर्मशाला,
सुधातापनिर्नासनी मेघमाला।
महामोह विध्वंसनी मोक्षदानी,
नमो देवि वागेश्वरी जैनवाणी।
अतीता अजीता सदा निर्विकारा,
विषय वाटिका खंडिनी खड्ग धारा।
पुरापाप विक्षेप कर्त्री कृपाणी,
नमो देवि वागेश्वरी जैनवाणी॥"

गोस्वामीजी के श्री 'नवदुर्गाविधान' का निम्नलिखित पद्य अब ज़रा पढ़िए—

"यहैं सरस्वती हंसवाहिनी प्रगट रूप,
यहै भव भेदिनी भवानी शंभु धरनी।
यहै ज्ञान लच्छन सों लच्छमी विलोकियत,
यहै गुण रतन भंडार भार भरनी॥"

कविवर बनारसीदासजी के दोहे भी तुलसीदासजी के दोहों से मिलते हुये हैं। देखिये, कविवर माया के विषय में कहते हैं—

"माया छाया एक है, घटै बढ़ै छिन मांहि।
इनकी संगति जे लगैं, तिनहिं कहीं सुख नाहिं॥
ज्यों काहू विषधर डसैं, रुचि सों नीम चबाय।
त्यों तुम माया सों मढ़ैं, मगन विषय सुख पाय॥"

गोस्वामीजी भी यही कहते हैं—

"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह के धारि।
तिहं मह अति दारुण दुखद, माया रूपी नारि॥"

इसी प्रकार और भी कविताओं में साम्य है, परन्तु यह स्थल उनकी तुलना करने के लिये उपयुक्त नहीं है। सारांश यह कि बनारसीदासजी की कविता तुलसीदासजी की कविता से समता रखती है।

यही एक किंवदन्ती प्रचलित नहीं है कि कविवर बनारसीदास महाकवि तुलसीदासजी के सम्पर्क में आये थे, बल्कि कहा यह भी जाता है कि सन्त सुन्दरदासजी के संसर्ग में भी वह आये थे। 'सुन्दर-ग्रन्थावली' के सम्पादक पं० हरिनारायण जी शर्मा, बी. ए. ने उसकी भूमिका में एक स्थल पर लिखा है कि "प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदासजी के साथ सुन्दरदासजी की मैत्री थी। सुन्दरदासजी जब आगरे गये तब बनारसीदासजी के साथ उनका संसर्ग हुआ था। बनारसीदासजी सुन्दरदासजी की योग्यता, कविता और यौगिक चमत्कारों से मुग्ध हो गये थे। तभी उतनी श्लाघा मुक्तकंठ से उन्होंने की थी। परन्तु वैसे ही त्यागी और मेधावी बनारसीदासजी भी तो थे। उनके गुणों से सुन्दरदासजी प्रभावित हो गये, इसीसे वैसी अच्छी प्रशंसा उन्होंने भी की थी।" प्रेमीजी ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "सन्त सुन्दरदासजी का जन्मकाल वि० सं० १६५३ और मृत्युकाल १७४६ है। इसलिए बनारसीदासजी से उनकी मुलाकात होना संभव तो है; परन्तु जब तक कोई और प्रमाण न मिले तब तक इसे एक किंवदन्ती से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता।" (अर्धक० पृ० २५–२७)

कविवर बनारसीदासजी की सर्वप्रथम रचना 'नवरस-पद्यावली' थी, जिसे उन्होंने अपने ही हाथ से गोमती नदी में जल-समाधि दे दी थी। वह एक हजार दोहे चौपाइयों में इश्क-

बाजी से भरी हुई थी। इस रचना के सम्बन्ध में कविवर लिखते हैं—

"पोथी एक नाई बनई, मित हजार दोहा चौपई।
तामैं नवरस रचना लिखी पै विसेस वरनन आसिखी॥
ऐसे कुकवि बनारसी भए, मिथ्या ग्रंथ बनाए नए॥"

इसके पश्चात् उन्होंने जो प्रौढ़ रचनाएँ रचीं, वे साहित्य और धर्म के लिये बड़े महत्त्व की हैं। उनकी अब तक निम्नलिखित रचनाएँ मिली हैं—

(१) नाममाला—जो १७५ दोहों का छोटा-सा शब्दकोष है और सं० १६७० में जौनपुर में रचा गया था। वीरसेवा-मंदिर सरसावा द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है।

(२) नाटक समयसार—कविवरजी की यह सबसे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण रचना है। यद्यपि इसका आधार पूर्वाचार्यों के ग्रन्थ हैं, परन्तु फिर भी यह एक मौलिक ग्रन्थ भासता है। सं० १६९३ में आगरे में यह रचा गया था। निस्सन्देह कविवरजी ने इसमें आध्यात्मिक अलौकिक आनन्द कूट-कूट कर भर दिया है। ज़रा इस मनहरण छन्द के अनुप्रास, अर्थ और भाव पर विचार कीजिये—

"करम भरम जग तिमिर हरन खग,
उरग लखन पग शिव मग दरसि।
निरखत नयन भविक जल वरपत
हरपत अमित भविक जन सरसि॥
मदन कदन जित परम धरम हित,
सुमिरत भगत भगत सब डरसि।

सजल जलद तन मुकुट सपत फन,
कमठ दलन जिन नमत बनरसि ॥"

निम्नलिखित छन्दों में जीव और शरीर की भिन्नता का विशिष्ट वर्णन देखिए—

"देह अचेतन प्रेत दरी रज,
रेत भरी मल खेत की क्यारी।
व्याधि की पोट अराधि की ओट,
उपाधि की जोट समाधि सौं न्यारी ॥
रे जिय! देह करे सुख हानि,
इते परि तोहि तु लागत प्यारी।
देह तु तोहि तजेगि निदान पि,
तूँ हित जे क्युँ न देहकि यारी ॥७५॥

और भी पढ़िये—

"रेत की सी गढ़ी किधों मढ़ी है मसान केसी,
अंदर अंधेरी जैसी कंदरा है सैल की।
ऊपर की चमक दमक पटभूखन की,
धोखे लागे भली जैसी कली है कनैल की ॥
औगुन की औंडी महा भौंडी मोहकी कनौंडी,
मायाकी मसूरति है मूरति है मैल की।
ऐसी देह याहि के सनेह याकी संगति सों,
ह्वै रही हमारी मति कोलू केसे बैल की ॥"

इस छोटे-से दोहे में कवि ने कितने मर्म की बात कह दी है—

"जाके घट समता नहीं, ममता मगन सदीव।
रमता राम न जानही, सो अपराधी जीव ॥"

मुमुक्षुओं को सारे ग्रन्थ को पढ़कर अध्यात्मरस का आस्वादन करना चाहिये।

(३) बनारसीविलास में कविवर जी की लगभग ५७ फुटकर रचनाओं का संग्रह किया गया है। सं० १७०१ में पं० जगजीवन जी ने यह संग्रह किया था। इसमें 'कर्मप्रकृतिविधान' नामक एक रचना दी हुई है, जो कविवर की संवत् १७०० की रची हुई अन्तिम रचना है। इस रचना के पूर्ण होने के केवल २५ दिन बाद ही बनारसीविलास का संग्रह किया गया था। इस क्षणिक अन्तरकाल में यदि कविवर जी का स्वर्गवास हुआ होता और उनकी स्मृति में जगजीवन जी ने यह संग्रह किया होता, तो वह इस महान् वियोग और स्मृति-रक्षा का उल्लेख अवश्य करते। वह यह न लिखते कि—

"और काव्य बनी खरी करी है बनारसी नैं,
सो भी एक क्रमसेती कीजै ग्यान भास है।
ऐसी जानि एक ठौर कीनीं सब भाषा जोरि,
ताकौ नाम धर्यौ यौ बनारसीविलास है॥"

कई वर्ष हुए जब यह ग्रन्थ पं० नाथूराम जी प्रेमी द्वारा "जैन ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीज़" में प्रकाशित किया गया था। अब अनुपलब्ध है। इसमें संग्रहीत 'ज्ञानबावनी' के दो छन्द देखिये—

"बनारसीदास ज्ञाता भगवान भेद पायो;
भयो है उछाह तेरे वचन कहाव में।
भेषधार कहै भैया भेष ही में भगवान्;
भेष में न भगवान, भगवान भाव में॥
लक्षकोटि जोरि जोरि कंचन अंबार कियो,
करता मैं याको ये तो करै मेरी शोभको।

धामघन भरो मेरे और तो न काम कछु,
सुखविसराम सों न पावें कहूँ थोभको ॥
ऐसो बलवंत देख मोह नृप खुशी भयो,
सेनापति थाप्यो जैसे अहंभार मोमको ।
बनारसीदास ज्ञाता ज्ञान में विचार देख्यो,
लोगन को लोभ लाग्यो लागे लोग लोभको ॥"

(४) अर्द्धकथानक कविवर की अपूर्व रचना है। इसमें उन्होंने अपने जीवन की सभी छोटी-बड़ी घटनायें संवत् १६९८ तक की लिखी हैं। इस प्रकार 'अर्द्धकथानक' कविवर के ५५ वर्ष का आत्मचरित है। उन्होंने इस ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि आजकल की उत्कृष्ट आयु के अनुपात से ५५ वर्ष की आयु आधी है। अतः इस ग्रन्थ का नाम 'अर्द्धकथानक' उपयुक्त है। यदि जीवित रहा तो शेष जीवन का चरित्र और लिख जाऊँगा। किन्तु ज्ञात नहीं कि कविवर कितने वर्ष और जीवित रहे और उन्होंने शेष आयु की जीवनी लिखी भी या नहीं ? प्रेमीजी का अनुमान है कि कविवर की 'बनारसीपद्धति' नामक रचना ही संभवतः उनके शेष जीवन का आत्मचरित्र है, परन्तु दुर्भाग्य से वह अभी कहीं से उपलब्ध नहीं हुआ है। 'अर्द्धकथानक' अब प्रकाशित हो गया है। प्रयाग विश्वविद्यालय की हिन्दी समिति ने भी उसे यद्वा तद्वा प्रकाशित किया है, परन्तु पं० नाथूरामजी प्रेमी की बम्बई वाली आवृत्ति विशेष प्रामाणिक है।

'अर्द्धकथानक' के विषय में प्रेमीजी ने लिखा है कि "यह ग्रन्थ उन्हें (कविवर जी को) जैन-साहित्य के ही नहीं, सारे हिन्दी साहित्य के बहुत ही ऊँचे स्थान पर आरूढ़ कर देता है। इस दृष्टि से तो वे हिन्दी के बेजोड़ कवि सिद्ध होते हैं।............

हिन्दी में ही क्यों, हमारी समझ में शायद सारे भारतीय साहित्य में (मुसलमान बादशाहों के आत्मचरितों को छोड़कर) यही एक आत्मचरित है, जो आधुनिक समय के आत्मचरितों की पद्धति पर लिखा गया है।" (हि० जै० सा० इ० पृ० ४०)। पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने भी 'अर्द्धकथानक' को कविवर की अपूर्व रचना बतायी है और लिखा है कि "कविवर बनारसीदास का दृष्टिकोण आधुनिक आत्मचरित-लेखकों के दृष्टिकोण से बिल्कुल मिलता-जुलता है। अपने चारित्रिक दोषों पर उन्होंने पर्दा नहीं डाला है, बल्कि उनका विवरण इस खूबी के साथ किया है, मानो कोई वैज्ञानिक तटस्थ वृत्ति से कोई विश्लेषण कर रहा हो।··· कविवर बनारसीदास जो आत्मचरित लिखने में सफल हुए इसके कई कारण हैं; उनमें एक तो यह है कि उनके जीवन की घटनाएँ इतनी वैचित्र्य-पूर्ण हैं कि उनका यथाविधि वर्णन ही उनकी मनोरंजकता की गारंटी बन सकता है। और दूसरा कारण यह है कि कविवर में हास्यरस की प्रवृत्ति अच्छी मात्रा में पायी जाती थी। अपना मज़ाक उड़ाने का कोई मौक़ा वे नहीं छोड़ना चाहते।··· सबसे बड़ी खूबी इस आत्मचरित की यह है कि वह तीन सौ वर्ष पहले के साधारण भारतीय जीवन का दृश्य ज्यों का त्यों उपस्थित कर देता है।" (अर्धक० पृ० २-३) अतएव यह कहना ठीक है कि "छः सौ पचहत्तर दोहा और चौपाइयों में कविवर बनारसीदास जी ने अपना चरित्र-चित्रण करने में काफी सफलता प्राप्त की है।" उसके कतिपय उदाहरण देखिये। कई महीनों तक कविवर एक कचौड़ीवाले से उधार कचौड़ियाँ खाते रहे। फिर एक दिन एकान्त में उससे बोले—

"तुम उधार कीनौ बहुत, आगे अब जिन देहु।
मेरे पास किछू नहीं, दाम कहाँ सौं लेहु॥"

परन्तु कचौड़ीवाला भला आदमी था। उसने उत्तर दिया—

"कहै कचौरीवाल नर, बीस रुपैया खाहु।
तुमसौं कोउ न कछु कहै, जहाँ भावै तहाँ जाहु॥"

कविवर ने छै-सात महीने तक उसके यहाँ दोनों वक्त भरपेट कचौड़ियाँ खाईं और जब गाँठ में पैसे आये तो चौदह रुपये देकर हिसाव साफ कर दिया। पाठक, देखिये उस समय कितना सुभिक्ष था और कितने सरल और उदार दुकानदार थे।

वि० सं० १६७३ में आगरे में पहले-पहल प्लेग का प्रकोप हुआ। कविवर ने उसका आँखों देखा वर्णन किस सजीवता से किया है—

"इसही समय ईति विस्तरी, परी आगरे पहिली मरी।
जहाँ तहाँ सब भागे लोग, परगट भया गाँठ का रोग॥
निकसैं गांठि मरै छिन माहिं, काहू की बसाय कछु नाहिं।
चूहे मरैं वैद्य नर जाहिं, भय सौं लोग अन्न नहिं खाहिं॥७५॥"

कहीं-कहीं कविवर ने बहुत ही हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। भाई की मृत्यु पर वह लिखते हैं—

"घनमल घनदल उड़ि गये, काल-पवन-संजोग।
मात पिता तरुवर तए, लहि आतप सुत-सोग॥"

जब कविवर एक बड़ी बीमारी से मुक्त होकर घर आये, उस समय की स्थिति का चित्रण देखिये—

"आय पिता के पद गहे, मा रोई उर ठोकि।
जैसे चिरी कुरीज की, त्यों सुत दशा विलोकि ॥"

यद्यपि कविवरजी ने संस्कारित भाषा में ही अपनी अधिकांश रचनायें रची हैं, परन्तु फिर भी वह अपभ्रंश-मिश्रित भाषा-प्रयोग को भी भुला नहीं सके हैं। 'मोक्ष-पैड़ी' के निम्नलिखित छन्दों को देखिए—

"इक समय रुचिवंतनो, गुरु अक्खै सुनमल्ल।
जो तुझ अंदर चेतना, वहै तुसाड़ी अल्ल ॥ १ ॥
ए जिन वचन सुहावने, सुन चतुर छयल्ला।
अक्खै रोचक शिक्ख नो, गुरु दीन दयल्ला ॥
इस बुझै बुध लहलहै, नहिं रहै मयल्ला।
इसदा मरम न जानई, सो द्विपद बयल्ला ॥ २ ॥"

'मोहविवेकजुद्ध' नामक रचना भी कवि बनारसीदासजी की कही जाती है, परन्तु प्रेमीजी उसे कविवरजी की कृति नहीं समझते, वल्कि वह किसी अन्य बनारसीदास कवि की रचना बताते हैं।

कुँवरपालजी कविवर वनारसीदासजी के अनन्य मित्र और उनकी 'धर्म-शैली' के उत्तराधिकारी थे। यह अच्छे कवि और विद्वान् थे, परन्तु इनकी कोई स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नहीं है। 'सूक्तिमुक्तावली' में इनके रचे हुए कुछ छन्द मिलते हैं। लोभ की निन्दा का एक उदाहरण देखिये—

"परम धरम वन दहै, दुरित अम्बर गति धारहि।
कुयश धूम उदगरै, भूरि भय भस्म विथारहि ॥
दुख फुलिंग फुंकरै, तरल तृष्णा कल कढ़हि।

धन इँधन आगम संजोग, दिन दिन अति बाढ़हि ॥
लहलहै लोभ-पावक प्रबल, पवन मोह उद्धत वहै ।
दज्झहि उदारता आदि बहु, गुण पतंग 'कँवरा' कहै ॥५९॥"

विशालकीर्तिजी बागड़ देश के सागवाडिसंघ के साधु-भट्टारक थे। श्री विजयकीर्ति पट्टधर शुभचन्द्र सूरि उनके गुरु थे। उन्होंने सं० १६२० में धर्मपुरी नामक स्थान में 'रोहिणीव्रत-रास' नामक ग्रन्थ रचा था। यथा—

"सकल कला गुण सागर रे, आगरु महिमा निधान।
विजय कीरति पाटि प्रगटीला, शुभचन्द्र सूरि पाम्या मान ॥ २ ॥
तेह तणा पय प्रणमीनि रे, माँगू बुद्धि विशाल ।
रोहिणी व्रत वारु करता, तूटि कर्मनाँ जाल ॥ ३ ॥

× × × ×

वागड देश माहिं अति भलां रे, जिन भवन उत्तंग।
सागवाडि संघरु बड़ो, नित नवा उत्सव रंग ॥ ८ ॥
धर्मपुरो स्थानक भल्लुरे, श्रावक बसि सुविचार।
त्याँ हंमी राम सुगम करो, सुणज्यो भविजन तार ॥ ९ ॥
संवत सोल वीसोत्तरि रे, आशाढ वदि रविवार।
चउदशि दिन रलिया मणि, रास रच्यो मनोहार ॥१०॥
श्री जिन वृपभ आदिश्वर, पूरो संघ नी आस।
सकल संघ कल्याण करु, विशालकीरति बोलि दास ॥११॥"

रचना साधारण है। इसकी एक प्रति सं० १६२० की लिखी हुई श्री नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के शास्त्रभण्डार में मौजूद है। (नं० अ ५०)

विजयदेवसूरि का समय सं० १६३३ माना जाता है। इनका रचा हुआ एक 'सीलरासा' नामक ग्रन्थ श्री नयामन्दिर धर्मपुरा

दिल्ली के शास्त्रभण्डार (नं० अ ४९-ग) में विद्यमान है। भाषा गुजरातीमिश्रित है। उदाहरण देखिये—

"रास भणिसुं रलीया मणौ, जे सुणि सील हियइ थिर थाइ।
कोकिल जिम कलिरव करइ, मास बसंत कइ अंव पसाइ ॥ कह० ॥

× × × ×

जेहवउ चंचल कुंजर कान, वेगि पडह जिम पाकउ जो पान।
जेहवी चंचल बीजली, जेहवो चंचल संध्या नो वाण ॥
डाभ अणी जल जेहवउ, तेहवो जोवनस्युं अभिमान।
पिण पिण जाइ छह छजितउ, विषय म राचिज्यो विषह समान ॥

× × × ×

श्री पूज्य पासचंद तणइ सुपसाय, सीस धरह निजनिरमल भावि।
नयर जालोरह जागतउ, हिवइ नेमि नमुं तुम्हें वे कर जोड़ि ॥

× × × ×

सामि दुरित नह दुप सहू हरिं दूरि, वेगि मनोरथ माहरा पूरि।
आणस्युं संयम आपिज्यो, हिव इम वीनवइ एम श्रीविजयदेवसूरि ॥"

इसमें नेमि-राजुल कथा का वर्णन है।

कवि नन्द आगरे के निवासी गोयल गोत्री अग्रवाल थे। इन्होंने सं० १६७० में 'यशोधरचरित्र भाषाचौपई' रचा था, जिसमें उन्होंने अपना परिचय निम्न प्रकार लिखा है—

"अग्रवार है वंश गौसना थानकौ, गोइलगोत प्रसिद्ध चिह्नुता ठाव कौ।
माता चंदा नाम पिता भैरौ भन्यौ, परि हौं* नंद कही मनमोद सुगुनगनु
—ना गन्यौ ॥ ६०७ ॥

---

* यहाँ पर कुछ अशुद्धि मालूम होती है। शायद 'परि' के स्थान पर 'कवि' शब्द है। पहले एक स्थल पर कवि ने अपना नाम 'नंद' लिखा है।

आगरे में शाह नूरदी के सुराज्य का उल्लेख कवि ने खूब किया है—

"सहर आगरौ नौ सुरवास, जिहिपुर नाना भोगविलास ॥८॥
नृपति नूरदी शाहि सुजान, अरितम तेज हरन सो भान।
दृष्टनि पोषै दुष्टनि हनैं, काँपहि मति जु साह गुन गनै ॥९॥

× × × ×

जाकै राज सुप्यकौ साज, सब कोई करै धर्म कौ काज ॥१२॥
हौहि प्रतिष्ठा जिनवर तनी, दीसहि धर्मवंत बहुधनी।
एक करावहि जिणवर धाम, लागैं जहां असंपिन दाम ॥१४॥
एक लिखाके परम पुरान, एक करहि संतीक प्रधान।
राज चैन कोऊ सकनि न लुपैं, कविता कवित्त तपी तप तपैं ॥१५॥
एसौ औसर ऐसौ राज, ऐसी बुधि करौ सौ साज।
भयो न ह्वैहैं सुप कौ कंद, यह मन मांहि विचारै नंद ॥१६॥"

इस प्रकार कवि के समय में आगरा में साहित्य और धर्म की पुण्यधारा बह रही थी। इनके 'यशोधरचरित्र' की एक प्रति सं० १९७२ की लिखी हुई श्री नयामंदिर दिल्ली के सरस्वती-भंडार में (नं० अ ३६—ख) मौजूद है। वहाँ के 'पंचायती मंदिर के भंडार' में इन्हीं कवि नंद का सं० १६६३ का रचा हुआ 'सुदर्शन-चरित्र' भी मौजूद है।

कर्मचंद्रकृत 'मृगावती चौपई' सोनीपत के पंचायती मंदिर के शास्त्रभंडार में मौजूद है, जिसे बाबू माईदयालजी ने सं० १६०५ का लिखा हुआ बताया है। (अनेकान्त वर्ष ५ पृ० २१६)

सुन्दरदासजी वागड़देश के निवासी विदित होते हैं। उनके हाथ का लिखा हुआ सं० १६७८ का एक गुटका हमें जसवन्त-

नगर (इटावा) के एक भाई के पास देखने को मिला था। इसे उन्होंने मल्लपुर में लिखा था। कवि सुंदर की दो रचनायें 'सुन्दर-सतसई' और 'सुन्दरविलास' बताई जाती हैं। उक्त गुटका में जो पद्य दिये हैं, वह 'सुंदरविलास' के हो सकते हैं। उदाहरण देखिये—

"कहा धरै सिरि जटा कहा निति सीस मुंडाये;
कहा धरै मुखि मौनि कहा तनु भस्म चढ़ाये।
पंच अगनि साधैं सदा धूम सहित बहु बार;
क्रिया हेतु जाणौ नहीं तौ क्यौं सिव लहै गंवार॥
प्रस्थर की करि नाव पार-दधि उतर्यौ चाहैं;
काग उड़ावनि काज मूढ़ चिंतामणि बाहैं।
वैसि छाह बादल मणा रचै धूम के धाम;
करि क्रिपाण सेज्या रमैं ते क्यौं पावै विसराम॥
अगनि पुञ्ज मैं पैसि कहत वसुधारय चांपौं;
कनक मेर मुसि आंण गेहि गुपता करि रापौं।
बालू तैं भरि घाण तेलु काढण कौं पेलैं;
गिरि पर कवल उगाइ दव्व कौं जुवा खेलैं॥
रोपि रुप कंचणि तणों आव लैंण की हौंस;
आपण हत जाणैं नहीं ते देत दई को दोस।
सुपनैं संपति पाइ बहुरि सो थिर करि जाणैं;
उपवण सींचण काजि कुम्भ काचां भरि आणैं॥
जीव दया पालैं नहीं चाहे सुसुख अपार;
बावैं बीज बबूल कौं पणिसो क्यौं फलति अनार।
निति प्रति चितवैं आत्मा करें न जड़ की आस;
तिनकौ कवि सुन्दर कहै मुकति पुरी होइ वास॥"

कवि ने बड़े सुन्दर और सरल रीति से लोकोक्तियों का समावेश इस रचना में किया है। देखिये, कवि ने इसमें अध्यात्मज्ञान का महत्त्व किस खूबी से दर्शाया है। उनका एक पद भी देखिये—

"जीया मेरे छांड़ि विषय रस ज्यौं सुख पावे।
सब ही विकार तजि जिण गुण गावै ॥ टेक ॥
घरी घरी पल पल जिण गुण गावै।
तातै चतुर गति वहुरि न आवै ॥ रे छांड़ि ॥ १ ॥
जो नर निज आतमु चित लावै।
सुन्दर कहत अचल पद पावै ॥ रे छांड़ि ॥ २ ॥"

जैनधर्मगत वीत-राग-विज्ञान की रक्षा करके कवि ने क्या मनोहर भक्तिरस छलकाया है। यह गुटका भ० गुणचन्द्र वागड़-देशीय ने अपने एक शिष्य के पठनार्थ दिया था।

भ० सुमतिकीर्तिजी मूलसंघ के भ० विद्यानंदि की आम्नाय में हुए थे। भ० मल्लिभूषण के पट्टधर श्री लक्ष्मीचंद्रजी भ० सुमति-कीर्ति के दीक्षागुरु थे और श्री वीरचंद से उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। उस पदके आचार्य ज्ञानभूषण और प्रभाचंद्र को वह गुरु-राय कहते हैं। महुआ नामक नगर में जब भ० सुमतिकीर्ति थे तब उन्होंने 'धर्मपरीक्षारास' लिखना प्रारंभ किया था और हांसोटनयरि में सं० १६२५ में समाप्त किया था। रचना इस प्रकार है—

"चंद्रप्रभ स्वामीय नमीय, भारती भुवना धारतो।
मूलसंघ महीयल महित, बलात्कार गुणसारतो ॥१॥

× × ×

पंडित हो प्रस्यां घणुं, वणाय गनि वीरदास।
हांसोटनयरि पूरण कर्यो, धर्म-परीक्षा-रास ॥

संवत सोल पंचवीस में, मागसिर सुदि बीजवार।
रास झझोझलीयां भणे, पूर्ण हवेवि सार॥"

कवि छीतर मोजावादनिवासी थे। जहाँ मानराजा का राज्य था, वहाँ रहकर सं० १६६० में कवि ने 'होली की कथा' लिखी थी। रचना साधारण है--

"वंदौ आदिनाथ जगसार, जा प्रसाद पाउं भवपार।
वर्द्धमान की सेव: करौं, ज्यों संसार वहुरि नहीं फिरौं॥१॥

× × ×

विण दीपन शौभै आवाश, विण राजा होइ सेना त्राश।
जै जो कंत विणा है नारि, स्व इंच्छा हींडै संसार॥२०॥

× × ×

शोहै मोजावाद निवाश, पूजै मनकी सगली आश।
शोभै राय मान को राज, जिह बंधी पूरव लग पाज॥९६॥

× × ×

छीतर वोल्यो विनती करै, होया मांहि जिणवाणी धरै।
पंडित आगै जोडै हाथ, भूल्यौ हौ तौ षमिज्यौ नाथ॥९८॥"

कवि विष्णु उज्जैन के निवासी थे। उन्होंने सं० १६६६ में 'पंचमीव्रतकथा' रची थी, जिसमें भविष्यदत्त का चरित्र संक्षेप में लिखा है। रचना साधारण है। उदाहरण देखिये--

"प्रथम नवति वंदौ जिनदेव, ताके चरननि प्रनऊं सेव।
औह गौतमु गनराजु मनाइ, मुनि सारद के लागौं पाइ॥१॥

× × ×

पुरी उजैनी कविनि कौ दासु, विस्नु तहां करि रह्यौ निवासु।
मन वच क्रम सुनौ सबु कोइ, वंध्या सुनै पुत्रफल होइ॥"

भानुकीर्ति मुनि ने सं० १६७८ में 'रविव्रतकथा' रची थी। इसकी एक प्रति सेठ का कूंचा दिल्ली के मंदिर के भंडार में मौजूद है।

त्रिभुवनकीर्ति भट्टारक का सं० १६७६ का रचा हुआ 'जीवंधर-रास' नामक ग्रंथ पंचायती मंदिर दिल्ली के भंडार में मिलता है।

गुणसागर (श्वे०) रचित 'ढालसागर' (हरिवंशपुराण सं० १६७६) भी उक्त मंदिर में है। (अनेकान्त, वर्ष ४ पृ० ५६३–५६५)

पांडे हेमराजजी का समय सत्रहवीं शताब्दि का चतुर्थ पाद और अठारवीं का प्रथम पाद है। वह पं० रूपचन्दजी के शिष्य थे। उनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं—(१) प्रवचनसारटीका, (२) पंचास्तिकायटीका, और (३) भाषा भक्तामर। प्रवचनसार-टीका सं० १७०९ और पंचास्तिकायटीका उसके भी वाद में गद्य में रची गई है। 'भाषा भक्तामर' श्री मानतुंगाचार्य के सुप्रसिद्ध स्तोत्र का हिन्दी पद्यानुवाद है। उदाहरण देखिये—

> "प्रलय पवन करि उठी आगि जो तास पटंतर।
> वमैं फुलिंग शिखा उतंग पर जलै निरंतर॥
> जगत समस्त निगल्ल भस्म करहैगी मानो।
> तड़तड़ाट दव अनल, जोर चहुँदिशा उठानो॥
> सो इक छिनमैं उपशमै, नाम-नीर तुम लेत।
> होइ सरोवर परिनमै, विकसित कमल समेत॥४१॥"

पांडे हेमराजजी ने 'गोम्मटसार' और 'नयचक्र' की वचनिका भी सं० १७२४ में रचकर समाप्त की थी। उनकी एक रचना 'सितपट चौरासी बोल' नामक भी है। (अर्धक० भू० पृ० २०)

हीरानन्द मुकीम ओसवाल जैन और सुप्रसिद्ध जगतसेठ के वंशज थे। वि० सं० १६६१ में उन्होंने 'सम्मेदशिखरजी' की यात्रा के लिए संघ निकाला था। वह शाहज़ादा सलीम के कृपा-पात्र और खास जौहरी थे। सलीम के बादशाह होने पर उन्होंने वि० सं० १६६७ में उनको अपने घर आमंत्रित किया था और नज़राना दिया था। इसका वर्णन एक अज्ञात कवि ने आलंकारिक भाषा में इस प्रकार किया है—

"चुनि चुनि चोखी चुनी, परम पुराने पना,
कुन्दनकों देनें करि लाए धन ताव के।
लाल लाल लाल लागे कुतब बदख़शां,
विविध बरन बने बहुत बनाव के॥
रूप के अनूप आछे अवलक्ष आभरन,
देखे न सुने न कोऊ ऐसे राज राव के।
बावन मतंग माते नंदजू उचित (?) कीने,
ज़रीसेता जरि दीनें अंकुस जड़ाव के॥"

'मिश्रबन्धुविनोद' में से सत्रहवीं शताब्दि के नीचे लिखे हुए जैन कवियों का उल्लेख प्रेमीजी ने किया है:—

उदयराज जती—बीकानेरनरेश रायसिंह के आश्रित थे। इन्होंने सं०.१६६० में राजनीति सम्बन्धी कुछ दोहे रचे थे।

विद्याकमलजी ने संवत् १६६९ के पूर्व सरस्वती का स्तवन 'भगवतीगीता' नाम से रचा था।

मुनि लावण्य ने 'रावणमन्दोदरीसंवाद' सं० १६६९ के पहले बनाया था।

गुणसूरि ने सं० १६७६ में "ढोलासागर" बनाया था।

लूणसागर ने सं० १६८९ में 'अंजनासुन्दरीसंवाद' नामक ग्रन्थ रचा था। (हिं० जै० सा० इति० पृ० ५३)

हर्षकीर्तिजी ने सं० १६८३ में 'पंचगतिवेल' नामक रचना रची थी, जिसकी एक प्रति श्री पंचायती मंदिर भंडार दिल्ली में है। उदाहरण के छन्द पढ़िये, जिन्हें भाई पन्नालालजी अग्रवाल दिल्ली ने लिख भेजने की कृपा की है—

"रिषभ जिनेसुर आदिकरि, वर्द्धमान जिन अंति।
नमसकार करि सरस्वती, वरणउ बेली भंति ॥१॥
मिथ्या मोह प्रमाद मद, इंद्री विषय कषाय।
जोग असंजम स्यौं मरै, जीव निगोदहि जाइ ॥२॥
× × ×
इक मैं इक सिद्ध अनन्ता, मिल ज्योति रहा गुणवंता।
जंहि जनम जरा नहिं दीसै, सुपकाल अनन्त गमीसै ॥
सुभ संवत सोलि तिवासै, नवमी तिथ सावण मासे।
भवलोक संबोधन काजे, कविहरपकीरति गुनगाजे ॥"

त्रिभुवनकीर्तिजी काष्ठासंघ में नंदीतटगच्छ और रामसेनान्वय से सम्बन्धित थे। उनके गुरु का नाम सोमकीर्ति था। जिस समय वह कल्पवल्ली नामक स्थान में सं० १६७६ में थे, उस समय उन्होंने 'जीवंधररास' की रचना की थी। इनकी भाषा में कुछ गुजराती शब्दों का प्रयोग हुआ है। संभव है, वह गुजरात के रहनेवाले हों। उदाहरण देखिये—

"श्री जीवंधर मुनि तप करी, पुहुतु शिवपुर ठाम।
त्रिभुवनकीरति इम वीनवी देयो तहा गुणग्राम ॥"

गुणसागर सूरि श्री विजयपति गच्छ के श्वेताम्बर विद्वान थे। उनके गुरु का नाम पद्मसागर था। उन्होंने सं० १६७२ में

'ढालसागर' नामक ग्रंथ रचा था, जिसमें हरिवंश की उत्पत्ति और यादवों का वर्णन है। भाषा में गुजरातीपन है। नमूना इस प्रकार है—

"श्री जिन आदि जिनेश्वरू, आदि तणौ करतार।
युगलाधर्म निवारणो, वरतावण विवहार ॥१॥
सांति शकल सुपदायकू, सांति करण संसार।
आरति सुख दुख आपदा, मार निवारण हार ॥२॥

× × ×

हरीवंस गायो सुजस पायो, ग्यान वृद्ध प्रकासनो।
पाप त्राठो गयो नाठो, पुन्य आयो आसनो॥
कर्ण पुत्र कलत्र कमला, पढ़त सुणत सुहांमणौ।
पूज्य श्री गुण सूर जंपै, संघ रंग बधावणौ॥"

मुनि कल्याणकीर्ति की एक रचना सं० १६३९ के लिपिबद्ध गुटका में सुरक्षित है, जिसमें शृङ्गार-रस की पुट वैराग्य के साथ खूब फब रही है—

"आसाढ़ आगम पीय समागम सुण्यो हे सखि आज।
मोहि बढ़त अङ्ग अनंग रंग तरंग चंग समाज॥
दस दिसा बादल सजल सारे ऊनये जलसाज।
मुदित दादुर मोर कोकिल करत मेघ अवाज॥
ए मनमोहन, कवण सयाण पकरत अवधिचय।
अजहु न आए जी ॥१॥"

अन्तिम पद्य भी पढ़िये—

ते कहुं जदुराज आवंत कुसल सौं एकबेर।
तौ सखी सब मिल घेरि रावैं रचें कोई एक फेरि॥

कहत मुनि कल्याणकीरति करहु जिणि अवसेर।
सुख दुख टार्यों टरत नाहीं अटल ज्यो गिरि मेर ॥८॥
ऐ मनमोहन०"

ब्र० ऋषिरायकृत 'सुदर्शनचरित्र' (श्वे०) पंचायती मंदिर दिल्ली में है।

त्रेपनक्रियारास अज्ञातकविकृत (सं० १६८४) भी उपर्युक्त मंदिर में है।

इक्कीसठाणा नामक प्राचीन हिन्दी की रचना सं० १६८३ की लिपिबद्ध भी उपर्युक्त मन्दिर में है। ❀

सोमकीर्तिजी ने सं० १६०० में 'यशोधररास' रचा था, जिसकी एक प्रति श्री पंचायती मंदिर दिल्ली में विराजमान है।

पं० प्रथ्वीपाल अग्रवाल पानीपत के निवासी थे। उन्होंने सं० १६९२ में 'श्रुतपंचमीरास' की रचना की थी, जो उपर्युक्त मंदिरजी में है।

पं० वीरदासजी भ० हर्षकीर्ति के शिष्य थे। उन्होंने सं० १६९६ में 'सीखपचीसी' बनाई थी। इसकी एक प्रति उपर्युक्त मंदिर में है।

गद्य—इस काल में गद्य-साहित्य का सिरजन भी होने लगा था, यद्यपि साहित्य-प्रगति का मुख्य माध्यम पद्य ही था। इस काल की गद्य में लिखी हुई केवल एक ही बड़ी कृति हमारे ज्ञान में आई है। वह है ७२ पत्रों में लिखा हुआ श्री शाहमहाराज पुत्र रायरछकृत 'प्रद्युम्नचरित' नामक ग्रन्थ। इसकी एक प्राचीन प्रति सं० १६९८ की लिखी हुई श्री जैन मन्दिर सेठ का कूँचा

❀ अनेकान्त, वर्ष ४, पृ० ५६१—५६६

दिल्ली के शास्त्रभंडार में मौजूद है। कविवर बनारसीदासजी ने भी कुछ गद्य लिखा था, उसका नमूना देखिये—

"अथ परमार्थवचनिका लिख्यते। एक जीवद्रव्य ताके अनंत गुण अनंत पर्याय। एक एक गुण के असंख्यात प्रदेश, एक एक प्रदेशनि विषै अनन्त कर्मवर्गणा, एक एक कर्मवर्गणा विषै अनन्त अनन्त पुद्गल परमाणु, एक एक पुद्गल परमाणु अनन्त गुण अनन्त पर्याय सहित विराजमान। यह एक संसारावस्थित जीव पिंड की अवस्था।"

श्री बड़ा जैनमंदिर मैनपुरी के शास्त्रभंडार में सं० १६०५ का विदुषी-रत्न तल्हो के लिए लिखा हुआ एक गुटका है। उसमें 'सम्यक्त्व के दस भेद' हिन्दी गद्य में लिखे हुए हैं। उदाहरण देखिये—

"वीतराग की आज्ञामात्र रुचि होइ नान्यथावादिनो जिन। एवं आज्ञा सम्यक्त्वं ज्ञातव्यं ॥१॥ मार्ग सम्यक्त्व किं। मोक्ष कउ मार्गु रत्नत्रय यतिधर्म्मु सुणिकरि रुचि उपजइ। तहा मार्गसम्यक्त्व कहिज्जइ ॥२॥ उपदेश सम्यक्त्व किं। त्रेसठिसलाका पुरुषानि कउ चरित्र सुणिकरि रुचि उपजइ तहा उपदेस सम्यक्तु कहिजाइ ॥३॥"

इस प्रकार हिन्दी में उत्कृष्ट गद्य के निर्माण का श्रीगणेश इस काल में हो गया था। निस्सन्देह इस काल को हिन्दी जैन साहित्य के 'पूर्वयुग' में 'स्वर्ण-काल' कहना चाहिये। इसमें न केवल उत्कृष्ट गद्य के प्रारंभिक दर्शन होते हैं, प्रत्युत जैन साहित्य के सर्वोत्कृष्ट हिन्दी कवि-गण इसी काल में हुए। इस काल के जैन कवियों की रचनायें मुख्यतः आध्यात्मिक वेदान्त को लक्ष्य करके लिखी गई हैं। उस समय आध्यात्मिक शैली की साहित्यरचना

सामयिक साहित्यप्रगति के सर्वथा अनुकूल थी। सम्राट् अकबर ने इस धार्मिक आध्यात्मिकता को प्रोत्साहन दिया था। उनके दरबार में ब्राह्मण, जैनी, ईसाई, मुस्लिम—सभी धर्मों के विद्वानों को निमंत्रित किया जाता था और उनसे धार्मिक चर्चा की जाती थी। जैन साधुओं के चरित्र और ज्ञान का प्रभाव अकबर पर ऐसा पड़ा था कि उस समय के कुछ लोगों ने यह लिख दिया कि सम्राट् जैन सिद्धान्तों को मानते हैं। अलबत्ता जैनियों के अहिंसा-सिद्धान्त का प्रभाव अकबर पर खूब पड़ा था। उनके 'दीनइलाही' नामक मत की आधारभित्ति आध्यात्मिकता ही थी। अतः इस काल की साहित्यिक प्रगति का अध्यात्म-भावना से अनुप्राणित होना स्वाभाविक था। इस दृष्टि से जैन कवियों की तत्कालीन रचनाओं को साम्प्रदायिकता की मुद्रा से अङ्कित करके अछूता नहीं छोड़ा जा सकता। उनकी आध्यात्मिकता राष्ट्र के लिए सुपाठ्य और मानसिक स्वास्थ्यवर्द्धक अध्ययन की वस्तु थी। उसका निर्माण वीतराग विज्ञान और अहिंसातत्त्व के आधार से हुआ था। यही कारण है कि आगे चलकर उसमें विकार उत्पन्न नहीं हुआ। सूफी और सन्त कवियों की अलंकृत आध्यात्मिकता और निष्काम प्रेम साहित्य की सुन्दर रचनायें थीं; परन्तु आगे चलकर उनमें विकार लाया गया। वे कुत्सित प्रेम की कामुक लीलाओं को प्रदर्शित करने की चीज़ बन गई। यह बात हिन्दी जैन साहित्य में नहीं हो पाई।

इस समय के हिन्दी जैन साहित्य में हमें आगे आने वाली खड़ी बोली के बीज भी दिखाई पड़ते हैं। हिन्दी पद्य ही नहीं, गद्य भी इस समय ऐसा रचा गया जो क्रमशः विकसित होकर हिन्दी के गद्य-निर्माण में पथप्रदर्शक कहा जा सकता है। कविवर बनारसीदासजी का 'अर्द्धकथानक' चरित्र तो उस समय की खड़ी बोली में ही रचा गया। वह बोली शाही छावनी या लश्कर के

लोगों में बोली जाने वाली हिन्दी के अतिरिक्त कोई दूसरी चीज नहीं थी। जिस तरह आजकल हम जिसे 'छावनी बाजार' कहते हैं उस समय वही 'उर्दू बाजार' कहलाता था। उर्दू शब्द छावनी का द्योतक था और 'उर्दू हिन्दी' छावनी की हिन्दी थी। हिन्दी कवि उससे प्रभावित हुए थे और उस बोली के बहुत से मुहावरों और शब्दों का प्रयोग भी करने लगे थे। कविवर बनारसीदासजी के 'अर्द्धकथानक' में ऐसे प्रयोग और फारसी शब्द अनेक मिलते हैं, यह पाठक आगे पढ़ेंगे। यही नहीं, कविवर की किसी किसी रचना को निरी खड़ी बोली की रचना कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप यह रचना देखिये—

"केवली कथित वेद अन्तर **गुप्त हुये**,
जिनके **शब्द** में अमृत रस **चुआ** है।
अब ऋग्वेद यजुर्वेद शाम अथर्वण,
इन्हीं का **प्रभाव** जगत में **हुआ** है॥
कहते बनारसी तथापि मैं कहूँगा कुछ,
सही समझेंगे जिनका मिथ्यात **मुआ** है।
मतवाला मूरख न मानै उपदेश जैसे,
उलूक न जाने किस ओर भानु उवा है॥"

इस पद्य में काले अक्षरों में छपे हुए शब्दों को केवल बदल दिया है। उनके स्थान पर उनके विकृत रूप जैसे गुपत, भये, शबद, चुवा, परभाव, मतवारो, हुवा, मुवा आदि थे। इनसे रचना में कोई अन्तर नहीं पड़ता और उसका रूप खड़ी बोली का हो जाता है। अतः यह कहना चाहिये कि खड़ी बोली की पद्यरचना का श्री गणेश भी इस काल में हो गया था, जिसका पूर्ण विकास बीसवीं शताब्दि में जाकर हुआ था। ये हैं इस काल की विशेषताएँ।

परिवर्तनकाल

(अठारहवीं से उन्नीसवीं शताब्दि तक)

मध्यकाल में हिन्दी-जैन-साहित्य-गगन में कविवर बनारसीदासजी और कवि राजचन्द्र सदृश सूर्य और शशि चमके थे, जिन्होंने हिन्दी-साहित्य-संसार को वह अनूठी कृतियाँ प्रदान कीं जो लोक-साहित्य में अद्वितीय हैं। मध्यकाल में 'समयसार नाटक' 'अध्यात्मगीत' आदि तात्त्विक और आध्यात्मिक रचनाओं के साथ साथ चरित्रात्मक रचनायें भी सिरजी गईं, जिनसे जनता का मनोरंजन और उपकार हुआ। किन्तु सत्रहवीं शताब्दि के उपरांत हम हिन्दी-जैन-साहित्य-जगत में न केवल भाषाशैली का परिवर्तन होता पाते हैं, प्रत्युत साहित्य की प्रगति को अनुरंजित करने में मुख्य कारण कवि-भावना को भी बदलता हुआ पाते हैं। इसलिए ही हमने इस काल का नामकरण 'परिवर्तन-काल' किया है।

इस काल के प्रारम्भ में कविगण अपभ्रंश प्राकृत मिश्रित भाषा के साथ साथ व्रजभाषा अथवा पुरानी हिन्दी में रचना करते हुए मिलते हैं। किन्तु समयानुसार पुरानी हिन्दी को हम बदलता हुआ पाते हैं। मुसल्मानी राजदरबार और लश्कर में हिन्दी अपनाई गई और इसका प्रभाव हिन्दी पर यह हुआ कि उसमें फारसी शब्दों की मात्रा बढ़ गई और सुकुमारता आ गई। कविवर बनारसीदासजी की काव्य-भाषा भी इस प्रभाव से रिक्त नहीं है। बल्कि कहना चाहिये कि उन्होंने ही खड़ी बोली के प्रयोग का श्रीगणेश हिन्दी-जैन-साहित्य में कर दिया था। श्रीयुत

पण्डित नाथूरामजी प्रेमी ने उनकी भाषा के विषय में लिखा है कि "बनारसीदासजी उच्च श्रेणी के कवि थे, उनकी अन्य रचनायें साहित्यिक भाषा में ही हैं, परन्तु अपनी (इस) आत्मकथा को उन्होंने विना आडम्बर की सीधी सादी भाषा में लिखा है, जिसे सर्वसाधारण सुगमता से समझ सकें। इस रचना से हमें इस बात का आभास मिलता है कि उस समय, अब से लगभग तीन सौ वर्ष पहले, बोलचाल की भाषा, किस ढंग की थी और जिसे आजकल खड़ी बोली कहा जाता है, उसका प्रारम्भिक रूप क्या था।...इसमें खड़ी बोली के प्रयोग विपुलता से पाये जाते हैं।" नीचे लिखे उद्धरणों को देखिये—

भावी दसा होएगी जथा, ग्यानी जानै तिसकी कथा।
जैसा घर तैसी नन्ह साल।
हूआ हाहाकार।
एहि विधि राय अचानक मुआ, गाँउ गाँउ कोलाहल हुआ।
तू मुझ मित्र समान।
चहल पहल हूई निजधाम।
पकरे पाइ लोभ के लिए।
बरस एक जब पूरा भया, तब बनारसी द्वारै गया।
जैसा कातै तैसा बुनै, जैसा बोवै तैसा लुनै।
आगे और न भाड़ा किया।
भावी अमिट हमारा मता, इसमें क्या गुनाह क्या खता।
कही जु होना था सो हुआ।
अङ्गा चङ्गा आदमी, सज्जन और विचित्र।
घर सौं हुआ न चाहे जुदा।

उस समय उर्दू फारसी आदि के शब्द बोलचाल में कितने आ

गये थे, इसका पता भी इस पुस्तक से लगता है। स्मरण रखना चाहिये कि काले अक्षरों में छपे हुए शब्द प्रयत्नपूर्वक नहीं लाये गये हैं। जैसे—

फारकती, दिलासा, कारकुन, मुश्किल, दरदवन्द, दरवेश, रद्दी, शोर, तह्कीक, रफीक़, इजार, फरजन्द, पेशकशी, गश्त, मशक्कत, फारिग, सिताव, नफर, अहमक, गुनाह, खता, खुशहाल, नखासा, कौल, हेच, पैजार। (अर्धक. भू. पृ. १०-११)

कविवर बनारसीदासजी के 'अर्द्धकथानक' में जिस खड़ी बोली का आभास मिलता है, वही उन्नीसवीं शताब्दि की रचनाओं में अधिक विकसित हो गई और वीसवीं शताब्दि में उससे हिन्दी-साहित्य में एक नया युग ही उपस्थित हो गया। परिवर्तनकाल में हुए कविवर वृन्दावनजी, कवि भुमकलालजी प्रभृति कवियों की साहित्यिक भाषा हमारे इस कथन को पुष्ट करती है। कविवर वृन्दावनजी के निम्नलिखित छन्दों को कौन खड़ी वोली के छन्द नहीं बतायेगा—

"जैनी वानी अमल अचल है, दोप की नाशनी है।
वोही मुझको परम धर्म दे, तत्त्व की भापनी है॥"

× × × ×

"आप्तागम पदार्थों के, स्वामी सर्वज्ञ आप हो।
सुरेन्द्रवृन्द सेवें हैं, आपको इस लोक में॥"

× × × ×

"प्रमदा प्रवीन व्रतलीन पावनी;
दिढ़ शील पालि कुलरीति राखिनी।
जल अन्न शोधि मुनिदानदायिनी;
वह धन्य नारि मृदुमंजुभापिनी॥"

× × × ×

"हे दीनबन्धु श्रीपति करुनानिधान जी।
अब मेरी व्यथा क्यों न हरो वार क्या लगी॥"

× × × ×

"अब मो पर क्यों न कृपा करते, यह क्या अंधेर ज़माना है।
इन्साफ करो मत देर करो, सुखवृन्द भरो भगवाना है॥"

× × × ×

"इस वक्त में जिनभक्तको, दुख व्यक्त सतावै।
ऐ मात तुझे देखके, करुणा नहीं आवै॥"

× × × ×

"बे जान में गुनाह मुझसे बन गया सही।
ककरी के चोर को कटार, मारिये नहीं॥"

"हमें आपका है बड़ा आसरा, सुनो दीन के वन्धु दाता वरा।
नृपागार गर्तातं तैं काढ़िये, अभैदान आनन्द को बाढ़िये॥"

खड़ी बोली के छन्दों के अधिक उदाहरण उपस्थित करना व्यर्थ है। किन्तु इस भाषा के साथ कविवर जी ने व्रजभाषा अथवा पुरानी हिन्दी भाषा का ही प्रयोग अधिक किया है। यही बात इस काल के कई अन्य कवियों की भाषा पर भी घटित होती है। इसलिए काव्य-भाषा की दृष्टि से इस समय को 'परिवर्तनकाल' कहना उपयुक्त है।

भाषा के साथ ही इस काल की काव्यधारा में भावात्मक कल्लोल भी नई आकृति में दिखती है। मध्यकाल में आध्यात्मिकता की बाढ़ आई थी और उसमें विश्वप्रेम-पूर्वक समता धारा बही थी। जैन-कवियों ने चरित्र-ग्रन्थों में आध्यात्मिकता के अतिरिक्त आदर्शवाद का भी चित्रण किया था; परन्तु उनसे उस वात्सल्यमयी भक्ति का सिरजन नहीं हुआ जो हिन्दी-साहित्य के

समवर्ती रीतिकाल में पाया जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि जैन-कवि भी भक्तिवाद से कुछ-कुछ प्रभावित हुए। यही कारण है कि इस काल में हमें ऐसे पदों और भजन-गीतों का बाहुल्य मिलता है जिनमें भक्तिरस को छलकाया गया है। किन्तु उस भक्तिरस-प्रवाह में यद्यपि संयम का उल्लंघन करके वासना को प्रोत्साहन नहीं दिया गया है, तो भी उसमें जैन आदर्श के अकर्तृत्ववाद से विषमता आ गई है। जैन कविगण रीतिकाल में प्रवाहित धर्म की ओट में वासना-पूर्वक काव्यधारा को घृणा की दृष्टि से देखते रहे और उन्होंने ऐसे कवियों को सचेत करने के लिए ही मानों कहा था—

"राग उदै जग अंध भयौ, सहजैं सब लोगन लाज गवाँई।
सीख विना नर सीख रहे, विसनादिक सेवन की सुघराई॥
तापर और रचैं रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।
अंध असूझन की अँखियानमें, झोंकत हैं रज रामदुहाई॥"

जैनकाव्य-प्राङ्गण की यह समुज्ज्वल निर्मलता और पवित्रता उसके आलोक को लोक के लिए स्वास्थ्यकर और विवेक-बल-वर्द्धक सिद्ध करती आई है। भगवान् नेमिनाथ और सती राजुल के प्रसंग को लेकर शृंगाररस की रचनायें यद्यपि जैन कवियों ने रचीं, परन्तु उनमें भी संयमपूर्ण-मर्यादा का ही पुट देखने को मिलता है। उनका उद्देश्य भी मनुष्य को आत्मज्ञानी बनाने का था।

परिवर्तनकाल में जैन-कवियों ने कवित्त और सवैया छन्दों में मुख्य रूप से रचनायें रची थीं। कवि भूधरदास जी के कवित्त और सवैया सुप्रसिद्ध हैं। साथ ही दोहा छन्द को भी इस काल में मान्यता प्राप्त हुई थी। 'बुधजन' आदि कवियों के दोहे उल्ले-

खनीय हैं। अलङ्कार और छन्दशास्त्र भी इस काल में रचे गये। संस्कृत साहित्य के नाटकों का भी अनुवाद करके नाटक-ग्रन्थों के अभाव की पूर्ति भी की गई।

इस काल में गद्य-साहित्य की भाषा परिमार्जित, सुन्दर और सुकुमार बना दी गई थी। बल्कि यह कहना चाहिये कि इस काल के जैन-गद्य ने वह सुधरा हुआ सुसंस्कृत रूप धारण कर लिया था कि जिससे आगे चलकर नवीन युग में खड़ी बोली के गद्य-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। गद्य-साहित्य के नमूने पाठकगण आगे पढ़ेंगे।

जैन कवियों में एक न्यूनता अवश्य खटकती है और वह यह कि वे आध्यात्मिकता और धार्मिकता में ऐसे बहे हैं कि उन रसों में उन्होंने बाढ़ ला दी है—संयम की और मानव-जीवन के परम उद्देश्य परमात्मत्व को पाने की भाव-दृष्टि से उनका यह प्रयास निस्सन्देह प्रशंसनीय है। किन्तु उन्हें मानव-जीवन के दूसरे पहलुओं को भुलाना नहीं था। संस्कृत और प्राकृत भाषा का जैन-साहित्य देखिये—वह मानवोपयोगी सब ही विषयों की रचनाओं से परिपूर्ण है। किन्तु हिन्दी के जैन कवियों ने अपने हिन्दी-साहित्य को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का प्रयास नहीं किया। फिर भी यह संतोष की बात है कि जीवनयुग के जैन कवियों और साहित्यकारों ने इस न्यूनता की भी पूर्ति कर दी है।

परिवर्तनकाल के प्रारम्भ में हिन्दी-जैन-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कविरूप में हम कविवर भैया भगवतीदास जी को ही पाते हैं। वह उस समय अवतरे जब हिन्दी-साहित्य में कविजन शृंगाररस की कुत्सित धारा में एकटक बहे जा रहे थे और विलास की मदिरा पिलाकर जनता को मर्यादाभ्रष्ट कर रहे थे। श्रीकृष्ण और

राधिका रानी के पवित्र भक्तिमार्ग का आश्रय लेकर भक्तकवि अपनी मनमानी वासनामय कल्पनाओं को उद्दीप्त कर रहे थे। किन्तु आगरा की जैन-कविशैली समय की इस कुत्सित साहित्य-धारा को निर्मल बनाने पर ही तुली हुई थी। हम देख चुके हैं कि कविवर बनारसीदास जी ने किस प्रकार 'नवरस' कृति को जो कुत्सित प्रेम और श्रृंगार रस से ओत-प्रोत थी गोमती की धारा में जल-समाधि देकर क्रान्ति का परिचय दिया था। कविवर भगवतीदास जी के समय में रीतिकालीन आदिकवि केशवदास विद्यमान थे। केशव श्रृंगार रस के मुग्ध-भ्रमर थे। श्रृंगार को वह अपने मन से बुढ़ापे में भी नहीं निकाल सके, आत्महित की भावना उनके हृदय में उस वृद्धावस्था में भी जागृत नहीं हुई। उनका तन बूढा हुआ, पर मन बूढ़ा नहीं हुआ। तभी तो उन्होंने कहा था—

"केशव केशनि असि करी, जैसी अरि न कराय।
चन्द्रवदन मृगलोचनी, बाबा कहि मुरि जाय॥"

इसे अश्लीलता न कहें तो और क्या कहें ? केशव की 'रसिक-प्रिया' को पढ़कर कविवर भगवतीदास जी ने जो उद्गार प्रकट किये हैं; वह उनके हृदय की पवित्रता और संयम-भावना के द्योतक तो हैं ही, अपि तु उनसे यह भी प्रकट है कि कविवर के हृदय में लोकहित-कामना कितनी गहरी पैठी हुई थी। उन्होंने कहा था—

"बड़ी नीति लघुनीति करत है, वाय सरत बदबोय भरी।
फोड़ा आदि फुनगुनी मंडित, सकल देह मनु रोग दरी॥

शोणित हाड़ मांसमय मूरत, तापर रीझत घरी घरी।
ऐसी नारि निरख कर केशव, 'रसिक-प्रिया' तुम कहा करी ?''

कविवर की कविता में कितनी सत्यता थी। वह नारी की निन्दा नहीं करते; बल्कि श्रृंगारी कवि को उसकी गलती सुझाते हैं और तत्कालीन कुत्सित साहित्य के प्रवाह के विरोध में आवाज़ ऊँची उठाते हैं। नारी के व्यक्तित्व की रक्षा करते हैं, क्योंकि वह नारी को पवित्रता और महत्ता का प्रतीक मानते हैं। महापुरुषों का जन्म नारी की कोख से ही तो होता है। वह उसे केवल विलास की वस्तु कैसे मानते ? और कैसे श्रृंगारी कवियों की 'लपटाने रहें पट ताने रहें' की कुत्सित दुर्भावना को पनपने देते। भगवतीदास जी के ही अनुरूप वेदान्ती कवि सुन्दरदास जी ने भी 'रसिक-प्रिया' की निन्दा की थी। सारांशतः कविवर भगवतीदास जी ने कविता 'स्वान्तः सुखाय' अथवा विलासिता या किसी को प्रसन्न करने के लिये नहीं रची थीं; बल्कि लोकोपकार के लिये—लोक को अमरत्व और देवत्व का सन्देश सुनाने के लिये रची थी।

भगवतीदासजी आगरे के रहनेवाले थे। वह ओसवाल जैनी कटारिया गोत्र के थे। उनके पिता लालजी थे और दशरथ साहु उनके पितामह थे। खेद है उनके जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। यह भी नहीं मालूम कि उनका जन्म कब हुआ था और वह कब स्वर्गवासी हुए थे। उनकी रचनाओं में संवत् १७३१ से १७५५ तक का उल्लेख मिलता है। वि० सं० १७११ में जब पं० हीरानन्दजी ने 'पंचास्तिकाय' का अनुवाद किया तब आगरे में एक भगवतीदास नाम के विद्वान मौजूद थे। सम्भवतः वह

भगवतीदास यही हमारे कविवर थे। इन्होंनें कविता में अपना उल्लेख 'भैया'—'भविक' और 'दासकिशोर' उपनामों से किया है। 'ब्रह्मविलास' नाम के ग्रन्थ में उनकी तमाम रचनाओं का संग्रह प्रकाशित किया जा चुका है, जिनकी संख्या ६७ है। उनकी कोई कोई रचना तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के समान है।

कविवर भगवतीदासजी भी बनारसीदासजी के समान एक प्रतिभाशाली आध्यात्मिक कवि थे। काव्य की सब ही रीतियों और शब्दालंकार अर्थालङ्कार आदि से परिचित थे। श्रीमूलचंदजी 'वत्सल' ने आपकी कविता के विषय में लिखा है कि "आपकी कविता अलंकार और प्रसाद गुण से पूर्ण है। जनता की रुचि और सरलता का आपने काव्य में पूर्ण ध्यान रक्खा है। भाषा प्रौढ़ और शब्द-कोष से भरी हुई है। उर्दू और गुजराती के शब्दों का आपने कहीं-कहीं बहुत ही सुन्दर प्रयोग किया है। सरलता आपकी कविता का जीवन है और थोड़े शब्दों में अर्थ का भण्डार भर देना यह आपके काव्य की खूबी है। सरसता और सुन्दरता के साथ आत्मज्ञान का आपने इतना मनोहर सम्बन्ध जोड़ा है कि वह मानवों के हृदयों को अपनी ओर आकर्षित किए बिना नहीं रहता।" (प्राचीन हिन्दी जैन कवि, पृ० १३७)

कविवर हिन्दी और संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ ही फारसी, गुजराती, मारवाड़ी, बंगला आदि भाषाओं पर भी अच्छा अधिकार रखते थे। कुछ कविताएँ तो आपने निरी गुज-राती और फारसी भाषा में रची हैं। कविता से उन्हें हार्दिक प्रेम था। वह उसमें तल्लीन हो जाते थे। कुछ उदाहरण देखिये, अनुप्रास और यमक की झंकार सुनिये—

"सुनि रे सयाने नर कहा करै 'घर घर'
तेरो जो सरीर घर घरी ज्यौं तरतु है।
छिन छिन छीजै आय जल जैसैं घरी जाय,
ताहू कौ इलाज कछू उरहू धरतु है॥
आदि जे सहे हैं ते तौ यादि कछु ताहिं तोहि,
आगै कहाँ वहा गति काहे उछरतु है।
घरी एक देखौ ख्याल घरी की कहाँ है चाल,
घरी घरी घरियाल शोर यों करतु है॥"

और भी सुनिये—

"लाई हौं लालन बाल अमोलक, देखहु तो तुम, कैसी वनी है।
ऐसी कहूँ तिहूँ लोक मैं सुन्दर, और न नारि अनेक धनी है॥
याही तैं तोहि कहूँ नित चेतन, याहु की प्रीति जो तोसौं सनी है।
तेरी औ राधेकी रीझ अनंत, सो मोपै कहूँ यह जात गनी है॥"

कविवर ने श्रद्धानी सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा कितने मनोहर ढंग से की, इसका भी रसास्वादन कीजिये—

"स्वरूप रिझवारे से, सुगुण मतवारे से,
सुधा के सुधारे से, सुप्राणि दयावंत हैं।
सुबुद्धि के अथाह से, सुदूरि पातशाह से,
सुमन के सनाह से, महा बड़े महन्त हैं॥
सुध्यान के धरैया से, सुज्ञान के करैया से,
सुप्राण परखैया से, शकती अनन्त हैं।
सबै संघ नायक से, सबै बोल लायक से,
सबै सुख दायक से, सम्यक ले सन्त हैं॥"

किन्तु दुनिया में ऐसे सन्त विरले हैं—दुनिया तो रासरंग में पगली हो रही है, यह भी कविवर की वाणी में पढ़िये—

"कोउ तो करैं किलोल भामिनी सों रीझि रीझि,
वाही सों सनेह करै खाम रंग अंग में।
कोउ तो लहै अनन्द लच्छ कोटि जोरि जोरि,
लच्छ लक्ष मान करैं लच्छि की तरंग में॥
कोउ महाशूरवीर कोटिक गुमान करै,
मो समान दूसरो न देखो कोऊ जंग में।
कहैं कहा "भैया" कछु कहिवे की बात नाहिं,
सब जग देखियतु राग रस रंग में॥"

संसार में मतवाद का पक्षपात कितनी भयङ्करता फैला रहा है—कविवर उसका निरसन करके निष्पक्ष निर्मद दृष्टि का किस सफलता के साथ चित्रण करते हैं—

"एक मतवाले कहैं अन्य मतवारे सब,
मेरे मतवारे पर वारे मत सारे हैं।
एक पंच-तत्त्व-वारे एक एक तत्त्व वारे,
एक भ्रम मत वारे एक एक न्यारे हैं॥
जैसे मतवारे वकैं तैसे मतवारे वकैं,
तासौं मतवारे तकैं विना मत वारे हैं।
सान्ति रस वारे कहैं मत को निवारे रहैं,
तेई प्रान प्यारे रहैं और सव वारे हैं॥"

'चेतनकर्म चरित्र' में वीर-रस की शक्ति-धारा कविवर ने बहाई है—उसमें वहाँ ही गोते लगाइये। केवल एक छन्द यहाँ पढ़िये—

"वज्जहिं रण तूरे, दलबल पूरे, चेतन गुण गावंत।
सूरा तन जग्गो, कोऊ न भग्गो, अरि दल पै धावंत॥"

परदेशी के एक पद की मधुरिमा भी चखिये—

"कहा परदेशी को पतियारो।
मत माने तब चलै पंथ को, साँझ गिनै न सकारो॥
सबै कुटुम्ब छाँड़ इतही पुनि, त्याग चलै तन प्यारो॥
दूर दिशावर चलत आपही, कोउ न रोकन हारो।
कोऊ प्रीति करो किन कोटिक, अंत होयगो न्यारो॥
धन सों राचि धरम सौ भूलत, झूलत मोह मंझारो।
इहि विधि काल अनन्त गमायो, पायो नहिं भव पारो॥
साँचें मुखसों विमुख होतहो, भ्रम मदिरा मतवारो।
चेतहु चेत सुनहु रे भइया, आपही आप सँभारो॥"

कविवर की एक से अधिक सुन्दर रचनायें दोहा छन्द में भी हैं। नमूना देखिये—

"शयन करत है रयन में, कोठीधुज अरु रंक।
सुपने में दोउ एक से, बरतैं सदा निशंक॥
द्वै द्वै लोचन सब धरैं, मणि नहिं मोल कराहिं।
सम्यक्दृष्टी जौहरी, विरले इह जग माहिं॥"

एक उर्दू की कविता भी देखिये—

"नाहक विराने ताईं अपना कर मानता है,
जानता तू है कि नाहीं अंत मुझे मरना है।
केतेक जीवने पर ऐसे फेल करता है।
सुपने से सुख में तेरा पूरा परना है॥
पंज से गनीम तेरी उमर के साथ लगे,
तिनोंको फरक किये काम तेरा सरना है।
पाक वेऐब साहिब दिल बीच बसता है,
तिसकी पहिचान बे तुझे जो तरना है॥"

इस भाषा को हिन्दी कहें तो बेजा क्या है? 'भैया' जी की अन्य कवितायें भी सरस सुन्दर हैं। पाठक 'ब्रह्मविलास' पढ़ें और आनन्द लें।

आनन्दघन जी* श्वेताम्बर सम्प्रदाय में एक प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं। वह उपाध्याय यशोविजयजी के समकालीन थे, इससे अधिक उनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। हिन्दी में उनकी 'आनंदघनबहत्तरी' नामक कविता उपलब्ध है, जो 'रायचन्द्र काव्यमाला' में छप चुकी है। उससे स्पष्ट है कि आनंदघनजी एक पहुँचे हुए महात्मा और आध्यात्मिक कवि थे। उनकी काव्यरचना कबीर और सुन्दरदास के ढंग की है और मर्मस्पर्शिनी है। उसमें उन्होंने समतारस को खूब छलकाया है—

"जग आशा जंजीर की, गति उलटी कछु और।
जकर्‌यौ धावत जगत मैं, रहै छुटौ इक ठौर॥
आतम अनुभव फूलकी, कोऊ नवेली रीत।
नाक न पकरै वासना, कान गहैं न प्रतीत॥"

'राग सारंग' में एक अध्यात्म पद गीत भी पढ़िये—

"मेरे घट ज्ञान भाम भयौ भोर,
चेतन चकवा चेतन चकवी, भागौ विरह कौ सोर॥१॥
फैली चहुँ दिशि चतुर भाव रुचि, मिट्यौ भरम-तम-जोर।
आपकी चोरी आप ही जानत, और कहत न चोर॥२॥
अमल कमल विकसित भये भूतल, मंद विषय शशि कोर।
'आनँद घन' इक वल्लभ लागत, और न लाख किरोर॥३॥"

---

* हि० जै० सा० इ०, पृ० ६१-६३।

यशोविजयजी* भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। इनका जन्म सं० १६८० के लगभग और देहान्त सं० १७४५ में गुजरात के डभोई नगर में हुआ था। वे नयविजयजी के शिष्य थे। संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिन्दी भाषाओं में उन्होंने कविता की थी। उन्होंने संस्कृत में लगभग ५०० ग्रंथ रचे थे। न्याय, अध्यात्म आदि अनेक विषयों पर उनका अधिकार था। यद्यपि वह गुजराती थे, पर विद्याभ्यास के सिलसिले में कई वर्ष तक काशी में रहे थे। यही कारण है कि वह सुन्दर हिन्दी रच सके थे। उनके ७५ पदों का संग्रह 'जसविलास' नाम से प्रकाशित हुआ था। कविता में आध्यात्मिक भावों की विशेषता है। उनके एक पद का रस लीजिये—

"हम मगन भये प्रभु ध्यान में।
विसर गई दुविधा तन मन की, अचिरा-सुत-गुनगान में ॥ हम०॥१॥
हरि-हर-ब्रह्म-पुरंदर की रिधि, आवत नहिं कोउ मान में।
चिदानंद की मौज मची है, समता रस के पान में ॥ हम० ॥ २ ॥
इतने दिन तू नाहिं पिछान्यो, जन्म गंवायौ अजान में।
अब तो अधिकारी ह्वै बैठे, प्रभुगुन अखय खजान में ॥ ३ ॥
गई दीनता सभी हमारी, प्रभु तुझ समकित दान में,
प्रभुगुन अनुभव के रस आगे, आवत नहिं कोउ ध्यान में ॥ ४ ॥
जिनही पाया तिनहि छिपाया, न कहै कोऊ कान में।
ताली लगी जबहि अनुभव की, तब जानै कोउ शान में ॥ ५ ॥
प्रभुगुन अनुभव चन्द्रहास ज्यौं, सो तो न रहै म्यान में।
चम्पक 'जस' कहै मोह महा हरि, जीत लियो मैदान में ॥ ६ ॥"

*हि० जै० सा० इ०, पृष्ठ ६१।

यशोविजयजी ने 'सितपट चौरासी बोल' के उत्तर में 'दिग्पट चौरासी बोल' भी रचा था, जो साम्प्रदायिकता से ओत-प्रोत है।

विनयविजयजी भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्वान् थे और यशोविजयजी के समय में ही हुए थे। वह उपाध्याय कीर्तिविजयजी के शिष्य थे और सं० १७३९ तक मौजूद थे। यशोविजयजी के साथ यह भी विद्याध्ययन के लिये काशी में रहे थे। इसी कारण इनको भी हिन्दी की अच्छी योग्यता हो गई थी। उनके ३७ पदों का संग्रह 'विनयविलास' नाम से प्रकाशित हुआ था। इनकी रचना अच्छी है। एक पद देखिये—

"घोरा झूठा है रे तू मत भूले असवारा।
तोहि मुधा ये लागत प्यारा, अंत होयगा न्यारा॥ घो०॥
चरै चीज अरु डरै कैद सौं, ऊवट चले अटारा।
जीन कसै तब सोया चाहै, खाने कौं होशियारा॥ २॥
खूब खजाना खरच खिलाओ, द्यो सब न्यामत चारा।
असवारी का अवसर आवै, गलियां होय गँवारा॥ ३॥
छिनु ताता छिनु प्यासा होवै, खिजमत बहुत करावनहारा।
दौर दूर जंगल में डारै, झूरै धनी विचारा॥ ४॥
करहु चौकड़ा चातुर चौकस, द्यो चाबुक दो चारा।
इस घोरे कौं 'विनय' सिखावो, ज्यौं पावो भवपारा॥ ५॥"

मनोहरलालजी* ने संवत् १७०५ में 'धर्मपरीक्षा' नामक संस्कृत ग्रन्थ का पद्यानुवाद किया था। कवि ने अपना परिचय यों लिखा है—

"कविता मनोहर खंडेलवाल सोनी जाति,
मूलसंघी मूल जा कौं सांगानेर वास है।

---

* हि० जै० सा० इ० पृ० ६४-६५।

कर्म के उदय तैं धानपुर में बसन भयौ,
सब सौं मिलाप पुनि सज्जनको दास है॥
व्याकरण छंद अलंकार कछु पढ्यौ नाहिं,
भाषा मैं निपुन तुच्छ बुद्धि को प्रकास है।
बाईं दाहिनी कछू समझै संतोष लियैं,
जिनकी दुहाई जाकैं, जिनही की आस है॥"

प्रेमीजी ने कवि की कविता साधारण बताई है, परंतु लिखा है कि 'कोई कोई पद्य बहुत चुभता हुआ है।'

'त्रिलोकदर्पण' के रचयिता श्री खरगसेनजी * भी अठारहवीं शताब्दि के कवि थे। वह लाभपुर (लाहौर) नगर के रहने वाले थे। उनके समय में लाहौर के जैनी श्रावकों की विचक्षण शैली थी। खरगसेन भी उनमें एक मर्मज्ञ थे। उन्होंने जिनेन्द्र-भक्ति से प्रेरित होकर 'त्रिलोकदर्पण' ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें उन्होंने तीन लोक का वर्णन करते हुए जिन-चैत्यों का वर्णन किया है। आदिपुराण, उत्तरपुराण, हरिवंशपुराण और त्रिलोकसार का

---

* "एही लाभपुर नगर में, श्रावक परम सुजाण।
सब मिलि कै चरचा करै, जाको जो उनमान॥
षड्गसेन तिनमैं रहै, सबकी सेवा लीन।
जिन वाणी हिरदै बसै, ज्ञान मगन रस चीन॥"

× × × ×

"चतुर भोज वैरागी जाण, नगर आगरे माँहि प्रमाण।
तिन बहुतौ कियौ उपगार, दरब सरूप दिए भण्डार॥४१॥
तबतैं बुद्धि बढ़ी अतिसार, सोलह सौ पचासिया धार।
पायौं मरम हृदय भयौ चैन, अगिणत जिन गुण लाग्यो लैण॥४४॥"
—त्रिलोकदर्पण।

अध्ययन करके कवि ने स्वतन्त्र रूप में इस ग्रन्थ को रचा है। लाहौर में उस समय पंडित राइ और गिरिधर मिश्र गुणवान् शास्त्रवक्ता थे। श्रोताओं में पं० हीरानन्दजी, रतनपालजी, अनूपरायजी आदि उल्लेखनीय श्रावक थे। उस समय आगरे में चतुर्भुज वैरागी एक उल्लेखनीय विद्वान् थे। वह अक्सर लाहौर आया करते थे। सं० १६८५ में वह लाहौर आये तो उस समय कवि ने उनसे जैन-सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त किया और उसके पश्चात् इस ग्रन्थ की रचना सं० १७१३ में की; जिससे उन्हें बहुत संतोष हुआ। वह लिखते हैं—

"सकल मनोरथ पूरे भये, अलप रूप है जैसो थए।
जैसो दम पायौ सन्तोप, तैसो सब कोई पावौ मोप ॥४४॥
संवत्सर विक्रम तैं आदि, सत्रह सै तेरह सुप स्वाद।
चैत्र सुकल पंचमी प्रमाण, यह त्रिलोकदर्पण सुपुराण ॥४५॥
रच्यौ बुद्धि अनुसार प्रमाण, देपि ग्रन्थ पाई विधिजाण।
अपणौ आव सफल कर लियौ, बोधबीज हृदय में कियो ॥४६॥"

यही नहीं, कवि इसे 'मुक्ति-स्वयंवर की जयमाल' बताते हैं। रचना साधारण है; परन्तु पंजाब की राजधानी में रचे जाने पर भी उसकी भाषा में पंजाबी बोल-चाल का कुछ भी प्रभाव दिखाई नहीं देता।

जोधराज गोदीका सांगानेर के निवासी थे। 'धर्मसरोवर' ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

"जोध कवीसुर होय, वासी सांगानेर को।
अमरिपूत जग सोय, बणिकजात जिनवर भगत ॥३७३॥
संवत सत्रह से अधिक, है चौईस सुजानि।
सुदि पून्यौ आषाढ़ कौ, कियो ग्रंथ सुपदानि ॥३८५॥"

इस ग्रन्थ में उन्होंने धर्म तत्त्व का निरूपण विविध प्रकार के सुभाषित और स्तुतिपूरक छंदों में किया है। रचना सामान्यतः अच्छी है। नमूना देखिये—

"शीतलनाथ भजो परमेश्वर अमृत मूरति जोति वरी।
भोग संजोग सुत्याग सबै सुषदायक संजम लाभ करी॥
क्रोध नहीं जहाँ लोभ नहीं कछू मान नहीं नहिं हैं कुटिलाई।
हरि ध्यान सम्हारि सजो सुभ केवल जोध कहे वह बात खरी॥"

इसकी एक प्रति श्री दि० जैन मन्दिर सेठ के कूचा के शास्त्र-भण्डार में मौजूद है। 'धर्मसरोवर' के अतिरिक्त 'सम्यक्त्व कौमुदी भाषा' ग्रन्थ को भी उन्होंने सं० १७२४ में रचा था। पहला ग्रन्थ आषाढ़ में समाप्त किया और उसके सात आठ महीने बाद दूसरा ग्रन्थ रचा था। इसके पहले 'प्रीतंकर चरित्र' (१७२१) और 'कथाकोष' (१७२२) नामक ग्रन्थ कवि जोध ने रच लिये थे। प्रवचनसार, भावदीपिकावचनिका (गद्य) और ज्ञानसमुद्र उपरान्त की रचनायें हैं। बाबू ज्ञानचन्द्रजी ने उनकी इन रचनाओं का उल्लेख किया है। (दि० जैं० भा० ग्रं० ना०, पृ० ४–५)

आचार्य लक्ष्मीचन्द्रजी श्वेताम्बरीय खरतरगच्छ के एक अच्छे विद्वान् और कवि प्रतीत होते हैं। दिगम्बर जैनाचार्य श्री शुभचन्द्रजी कृत 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ का आपने पद्यबद्ध भाषानुवाद किया था। उसमें आपने अपना परिचय निम्न प्रकार लिखा है—

"ज्ञान समुद्र अपार पय, मति नौका गति मन्द।
पै केवट नीकौ मिल्यौ, आचारज शुभचन्द॥४७॥
ताके वचन विचारि कै, कीनै भाषा छन्द।
आतम लाभ निहारि मनि, आचारज लक्ष्मीचन्द॥४८॥

गन परतर सब जग विदित, शुभ भापा जिन चन्द।
लबधि रंग पाठक सुगुरु, रत जिन धर्म अनन्द॥
रत जिन धर्म अनन्द नन्द सम ब्रह्म विचारी।
द्वै शिष ताके भए विदुप चित, शुभ जिन गुन धारी॥
कुशल नारायणदास तासु लघु भ्राता लखमन।
जानि भविक सुपसदन विदित जग सब परतर गन॥४९॥"

जिन ताराचन्द्रजी के लिये उन्होंने यह पद्यानुवाद किया था, उनका भी परिचय पढ़ लीजिये—

"बदलिया गोतधर करत वजीरी नित स्वामि काम सावधान हिये परिचाउ है।
ताराचंद नाम यह वस्तुपाल जूको नंद हिरदै मैं जाकै जिनवानी ठहराउ है॥
इनहीं कै कारन तै ग्रंथ ज्ञान निधि भयौ, पढ़त सुनत याके मिटत विभाउ है।
आगम अंगिमकौं बखान्यौ मग भापा रचि स्वरस रसिक यासौं रापे चित चाउ है॥"

फतेहपुर नगर में अलफखाँ सरदार थे। उन्होंने ताराचंदजी के सिपुर्द राजकाज करके उन्हें दीवान का पद दिया था। कवि लखमीचन्द ने उन्हीं के लिये यह रचना की थी। उनका दीक्षा नाम लब्धविमल गणि प्रतीत होता है, क्योंकि एक स्थल पर यह उल्लेख है कि—

"लब्धि विमल पाइ मनुपर्क्षी गति नीकी ताहीं
फल लीनौं राच्यौ ध्यानके विधान सौं।"

सेठ के कूंचा दिल्ली के शास्त्र-भण्डार की प्रतिके अन्त में भी इस 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ को पण्डित लब्धिविमल गणिकृत लिखा है। कविजी के विषय में एक बात नोट करने योग्य है, वह यह कि यद्यपि वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय के थे, परन्तु हृदय के इतने उदार थे कि उन्होंने अकलंक-समन्तभद्रादि दिगम्बर जैनाचार्यों

का स्मरण बड़े गौरव से किया है। मालूम होता है उस समय विद्वानों में साम्प्रदायिकता का पक्षपात घर नहीं कर गया था। देखिये जरा कविजी 'ज्ञानार्णव' की प्रशंसा में क्या खूब कहते हैं—

"नाना भांति गुणकौं निवास यहै रतरासि,
सुपद गंभीर केते जन्तु कौं विलास है।
उतपात ध्रुव आदि वीर्चा है अनेक जहाँ,
रहत न मल द्रव्य अनन्त निवास है॥
नयकौ कलाप यहै आपगा मिलाप जामैं,
न्हान कीनें छीनै पाप संगम सुवास है।
ऐसो 'ज्ञानार्णव' हमारे हिय बसत है,
आतम कौं आदरस परम प्रकास है॥१४॥"

कविजी की रचना शैली प्रसाद गुण को लिये हुये हैं। कहीं अनेक पद्यों में कविवर वनारसीदास जीके काव्यों का छाया अनुसरण दीखता है। 'ज्ञानार्णव' का प्रारम्भिक छन्द ही देखिये—

"ललित चिन्ह पद कलित मिलत निरपति निज संपति।
हरषित मुनिजन होय धोय कलिमल गुण जंपति॥
दिढ़ आसन थिति वासु जासु उज्जल जग कीरति।
प्रातीहारज अष्ट नष्ट गत रोग न पीरति॥
अजरामर एकल अछल अग अनुपम अनमित शिवकरन।
इन्द्रादिक वंदित चरणयुग, जय जय जिन अशरण शरण॥१॥

'ज्ञानार्णव' के द्वारा कवि जग-जीवों को ऐसा खेल खेलने के लिये प्रोत्साहित करता है, जिसका कभी अन्त न हो। वह किस सुंदर रूप में कहता है—

"जगत के सावधान करन कौ राजिपौर,
बाजत घरयार घरी घरी शोर करिके।
आरिज हैं राज राऊ पूरब तपस्वी जन,
रापत है ज्ञानी विप्र थहै मन धरिकै॥
होहु सावधान जग षेलकौ ठगाय रापौ,
गई फेर नाइ हेरै रहै कहा परिकै।
पेलो ऐसो पेल जाको कबहूँ न आवै अंत,
मीत अविनासी जग पासी सूंनि करिके॥२७॥"

सारांशतः 'ज्ञानार्णव' एक सुन्दर आध्यात्मिक ज्ञान-रस पूरित रचना है, जिससे ज्ञानी जीवों का विशेष उपकार हो सकता है।

कविरायचन्द्र का संवत् १७१३ का रचा हुआ 'सीताचरित' श्रीनया मंदिरजी धर्मपुरा दिल्ली के शास्त्र भंडार से (अ ३२ ग) उपलब्ध हुआ है। परंतु कवि ने उसमें अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है। उदाहरण देखिये—

"राम जानकी गुन विस्तार, कहै कौन कवि वचन विचार॥
देव धरम गुरु कुं सिर नाय, कहै चंद उतिम जग माय॥

× × ×

रावन कौं जीत राम सीता ले विनीता आए,
वरतै सुनीत राज पलक सुहावनौ।
सुषमैं वितीत काल दुपकौ वियोग हाल,
सवही निहाल पाप पंथ मैं न आवनौ॥
वाही वर्त्तमान दीसै सबही सुबुध लोक,
सुरग समान सुप भोग मनभावनौ॥
कोऊ दुपदाई नांहि सज्जन मिलायी मांहि,
सबही सुधर्म्मी लोक राम गुन गावनौ॥१२॥

कीयो ग्रंथ रविषेण नैं रघुपुराण जिय जांण।
वहै अरथ इण मैं कह्यौ, रायचंद उर आंण ॥२७॥
× × ×
संवत सतरह तेरोतरै, मगिसर ग्रंथ समापति करै।"

इसकी प्राचीन प्रति सं० १७९१ की धामपुर की लिपिबद्ध है। जिनहर्ष पाटन निवासी थे। इन्होंने सं० १७२४ में 'श्रेणिक-चरित्र' छन्दबद्ध रचा था। (हि० जै० सा० इ०, पृ० ७१) इन्हीं की रची हुई एक 'ऋषि बत्तीसी' नामक रचना हमारे संग्रह में है; जिसके आदि और अन्त के पद्य निम्न प्रकार है—

"अष्टापद श्री आदि जिनंद, चंपा वासपूज्य जिनचंद।
पावा सुगति गया महावीर, अवर नेमि गिरनार सधीर ॥१॥
× × ×
उत्तम नमतां लहीए पार, गुणगृहतां लहीए निस्तार।
जाइनें दूर कर्मनीं कोड़, कहै जिनहर्ष नमूं कर जोर ॥३२॥"

कवि खुशालचंद काला सांगानेर के रहनेवाले खंडेलवाल जैनी थे। सांगानेर में मूलसंघी पं० लखमीदास जी रहते थे। कवि खुशाल के वह विद्यागुरु थे। उनसे विद्या पढ़कर कवि खुशाल जहानाबाद (दिल्ली) चले आए और वहाँ जयसिंहपुरा नामक मुहल्ले में रहने लगे। दिल्ली में उस समय सेठ सुखानंदजी शाह प्रसिद्ध थे। उनके गृह में श्री गोकुलचंद नामक एक ज्ञानी पुरुष थे। उन्हीं के उपदेश से कवि ने 'हरिवंशपुराण' का पद्यानुवाद सं० १७८० में किया था। यह अनुवाद ब्र० जिनदास जी के ग्रन्थ के अनुसार रचा गया है। कवि यही लिखते हैं—

"तहाँ श्री जिनदास जू, ग्रन्थ रच्यो इह सार।
सो अनुसार खुस्याल हे, कह्यौ भविक सुपकार ॥३५॥"

इस ग्रन्थ की एक प्रति सं० १८४४ की लिपि की हुई अलीगंज के श्री दि० जैन शान्तिनाथ मंदिर के शास्त्रभंडार में है।

'हरिवंशपुराण' के अतिरिक्त उनके रचे हुए 'पद्मपुराण' (१७८३), 'उत्तर पुराण' (१७९९), 'धन्यकुमारचरित्र' 'जम्बूचरित्र' आदि कई ग्रंथ उपलब्ध हैं। 'यशोधरचरित्र' भी इन्हीं कवि खुशालचंदजी का बनाया हुआ है।

जगजीवन और हीरानन्द—बादशाह जहाँगीर के शासन-समय में आगरे में संघई अभयराज अग्रवाल एक सुप्रसिद्ध धनी थे। उनकी पत्नियों में एक 'मोहनदे' थीं। जगजीवनजी उन्हीं की कोख से जन्मे थे। समय पाकर वह भी अपने पिता की भाँति सुप्रसिद्ध हुए। 'पंचास्तिकाय टीका' में लिखा है कि वह जाफरखाँ नामक किसी उमराव के मंत्री हो गये थे—

"ताकौ पूत भयौ जगनामी, जगजीवन जिनमारग गामी।
जाफरखाँ के काज संभारे, भया दिवान उजागर सारे॥५॥"

जगजीवन स्वयं कवि और विद्वान् थे, और वह अन्य विद्वानों को भी साहित्यरचना के लिये उत्साहित करते थे। आपने 'बनारसीविलास' का संग्रह किया था और 'समयसार नाटक' की एक टीका लिखी थी। उनके समय में भगवतीदास, घनमल, मुरारि, हीरानन्द आदि अनेक विद्वान् थे। हीरानन्दजी शाहजहानाबाद में रहते थे, जो आगरे का ही एक भाग था। जगजीवन जी की प्रेरणा से उन्होंने 'पंचास्तिकायसार' का पद्यानुवाद केवल दो महीने में रच दिया था। यह एक तात्त्विक ग्रन्थ है और "जैनमित्र" कार्यालय से प्रकाशित हो चुका है। कविता साधारणतः अच्छी है। उदाहरण देखिये—

"सुख दुख दीसै भोगता, सुखदुख रूप न जीव।
सुखदुख जाननहार है, ग्यान सुधारस पीव॥ ३२१॥
संसारी संसार में, करनी करै असार।
सार रूपै जानै नहीं, मिथ्यापन कौं टार॥३२४॥"

सं० १७११ में यह ग्रंथ पूर्ण हुआ था।

श्री खेमचन्दजी तपागच्छ की चन्द्रशाखा के पंडित थे। उनके गुरु का नाम श्री मुक्तिचन्द्रजी था। जब आप नागरदेश में थे, तब संवत् १७६१ में 'गुणमाला चौपई' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ की एक प्रति जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा में सुरक्षित है, जो सं० १७८८ की लिपिबद्ध है। रचना सुन्दर है। कवि गुजरात की ओर रहे हैं, इसीलिये उसमें गुजराती शब्द आ गये हैं। उदाहरण देखिये—

"श्रीऋषभादिक जिनवर नमुं, चौवीसे सुखकंद।
दरसण दुप दूरै हरै, नामै नित आणंद॥१॥

× × × ×

पूरव देस तिहां गोरपपुरी, जांणे इलिका आंणि नैधरी।
बार जोयण नगरी विस्तार, गढ मढ मंदिर पेलि पगार॥५॥

× × × ×

नगर मांहि ते देहरा घणा, केई जैन केई सिवतणा।
मांहि विराजै जिनवर देव, भवियण सारै नितप्रति सेव॥१०॥"

× × × ×

गोरखपुर के राजा गजसिंह और सेठपुत्री गुणमाला की कथा को कवि ने इस ग्रन्थ में सुन्दर रीति से प्रतिपादित किया है। गुणमाला की बाललीला का चित्रण जरा देखिये—

"गुणमाला रामति रमै ललनां, अहो प्यारे पेलै विविध प्रकार, भांति भांति ना पेलणां ललनां ।
गुड्यां सुं प्रेम अपार ॥ १ ॥ गु० ॥
सात पांच मिलि सारषी । ल० अहो० । गावैं गीत रसाल ।गु०।
मात पिता नीं लाडिली । ल० अहो० । वाल्ही घणी मौसाल ॥२॥गु०॥
आडौ मांडै माय सुं । ल० अहो० । अप मांगै वस्त अनेक ॥गु०॥
करै तात सुं रूसणौ । ल० अहो० । अपइ होती बेटी एक ॥३॥गु०॥
पिण रोवै पिण में हँसै । ल० अहो० । पिण में लाडू पाय ॥गु०॥
पिण नागी आगैं फिरै । ल० अहो० । गोद मांहि सो जाय ॥४॥गु०॥"

× × × ×

बालापणि तौ अति भलौ । ल० । जिण में रंग न रोस ॥गु०॥
चालूँ औ तरुँणा पणौ । ल० । अजि हाँ ऊभी तिहाँ दोस ॥७॥गु०॥"

× × × ×

युवावस्था के नखसिख वर्णन की एक झाँकी भी देखिये—

"कंचू पहरि जड़ाव की, कीधी कुचोपरि छाँह ।
सोभा अति अँगीयाँ तणी, जेहनी बड़ीयाँ बाँह ॥२८॥मे०॥
हृदैस्थल ही वर्ण्यौ, सेली वर्णा सुघाट ।
दीठां सुष अति उपजै, पितृ दंड जाणे वाट ॥२९॥मे०॥
पेटइ पोइणि पत्रह तिसौ, ऊपरि त्रिवली थाय ।
गंगा यमना सरसती, तीनों बैठी आय ॥३०॥मे०॥
नाभि रत्नकी कुंपली, जंघा त केली स्थंभ ।
मानव गति दीसै नहीं, दीसै कोई रंभ ॥३१॥मे०॥"

कवि का यह वर्णन कामुकता के स्थान पर ललना के प्रति आदर भाव जागृत करता है । यह उसके जैनत्व की विशेषता है ।

गुणमाला का व्याह गजसिंह से हुआ; तब माता ने गुणमाला को जो शिक्षा दी, वह आर्य-मर्यादा की द्योतक है—

"सीयावणि कुंवरी प्रतैं, दीयैं रंभा मात।
बेटी तूँ पर पुरप सुं, मत करजे बात ॥१॥
भगति करे भरतार की, संग उत्तम रहजे।
वडां रा म्हौ बोलै रपे, अति विनय वहजे ॥२॥"

इस प्रकार की उत्तम सीख से यह पद्य ओत-प्रोत है। गुण-माला ने अपना पातिव्रत्य खूब निवाहा। कथा सरस है और मध्यकाल के समाज का सजीव चित्र उसमें मौजूद है।

नैणसी मूता* ओसवाल जाति सिंहके श्वेताम्बर जैन थे। वह जोधपुर के महाराजा वड़े जसवन्तजी के दीवान थे। मारवाड़ी मिश्रित भाषा में राजस्थान का एक इतिहास लिखकर जिसे 'मूता नैणसी की ख्यात' कहते हैं, वह अपना नाम अजर अमर कर गये हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ मुंशी देवीप्रसादजी ने इस ग्रन्थ की बहुत प्रशंसा की थी। इसको उन्होंने इतिहास का एक अपूर्व और प्रामाणिक ग्रन्थ बतलाया था। यह ग्रन्थ संवत् १७१६ से १७२२ तक लिखा गया था। इसमें ऐसी अनेक बातों का उल्लेख प्रेमीजी बतलाते हैं, जिनका पता न तो कर्नल टॉड के 'राजस्थान' से चलता है और न किसी दूसरे ग्रन्थ से। इस ग्रन्थ में राजपूतों की ३१ जातियों का इतिहास दिया हुआ है। "इसके पहले भाग में पहले तो एक-एक परगने का इतिहास लिखा है। उसमें यह दिखाया है कि परगने का वैसा नाम क्यों हुआ, उसमें कौन-कौन राजा हुए, उन्होंने क्या-क्या काम किये और वह कब और कैसे

* हि० जै० सा० इ० पृ० ६६।

जोधपुर के अधिकार में आया। फिर प्रत्येक गाँव का थोड़ा-थोड़ा हाल दिया है कि वह कैसा है, फसल कौन-कौन धान्यों की होती है, खेती किस-किस जाति के लोग करते हैं, जागीरदार कौन हैं, गाँव कितनी जमा का है, पाँच वर्षों में कितना रुपया बढ़ा है, तालाब नाले और नालियाँ कितनी हैं, उनके इर्द-गिर्द किस प्रकार के वृक्ष हैं। इत्यादि। यह भाग कोई चारसौ पाँचसौ पत्रों का है। इसमें जोधपुर के राजाओं का इतिहास रावसियाजी से महाराजा बड़े जसवन्तसिंहजी के समय तक का है। दूसरे भाग में अनेक राजपूत राजाओं के इतिहास हैं। मूता नेणसा इस ग्रन्थ को लिखकर जैन-समाज के विद्वानों का एक कलंक धो गये हैं कि ये देश के सार्वजनिक कार्यों से उपेक्षा रखते हैं।"

देव ब्रह्मचारी (केसरीसिंह?) कृत 'श्री सम्मेदशिखरविलास' नामक रचना हमारे संग्रह में है; जिसमें उन्होंने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—

"श्री लोहाचारज मुनि धर्म विनीत हैं;
तिन कृत घत्ताबंध सुग्रंथ पुनीत है।
ता अनुसार कियौ सम्मेद विलास है;
देव ब्रह्मचारी जिनवर को दास है॥
केसरीसिंह जान, रहै लसकरी देह रे।
पंडित सब गुण जान, याकौ अर्थ बताइयौ॥"

ब्र० देवजीकृत 'परमात्म-प्रकाश' की भाषाटीका भी जसवन्तनगर (इटावा) के दि० जैन-मंदिर में सं० १७३४ की लिपिबद्ध मौजूद है।

भट्टारक विश्वभूषण हथिकान्त (ज़िला आगरा) के पट्टधर थे। उन्होंने सं० १७३८ में 'अष्टाह्निका कथा' रची थी। इसी साल उन्होंने 'जिनदत्तचरित्र' भी रचा था। उनके रचे हुए कुछ पद भी मिलते हैं। उदाहरण देखिये—

"कैसै देहुँ कर्मनि पोहि !
आपही मैं कर्म्म बाँधो, क्यों करि डारौं तोरि ॥१॥
देव गुरु श्रुत करी निंदा, गहाँ मिथ्या डोरि।
कर णिसु दिन विप चरचा, रह्यौ संजमु बोरि ॥२॥
हाँसी करि करि कर्म बाँधे, तबहि जानी थोरि।
अबहि भुगतंत रुदनु आवै, जैसे वन घन मोरि ॥३॥
चतुर रुचि सम्यक्त सौं करि, तत्त्व सौं रुचि जोरि।
'विश्वभूपन' जोति जो जोवत, सकल कर्मनु फोरि ॥४॥"

'जिनमत खिचरी' नामक कृति का भी नमूना देखिये—

"लगु रही मो पिय हो दरसन की, पीया दरसन की आस
दरसनु कहि न दीजियै ॥१॥
काहे हो भूले भ्रम पीया, भूले भ्रमजाल, मोह महामद भेजियै ॥२॥

× × × ×

नगर वड़ो हथिकंत, अहो हथिकंत प्रसिद्ध,
धमभाव श्रावग ठाहैं ॥१२॥
सुनियां हो भवि मनु दै, अहो भवि मनु दै याहि
मंगल होहि शरणा तनै।
कीनी हौं परमारथ, अहो परमारथ हेत;
विश्वभूपन मुनिराज नै ॥१४॥

इनका रचा हुआ एक 'ढाईद्वीप का पाठ' भी है, जिसकी कई जयमालायें हिन्दी में हैं।

भ० ललितकीर्तिजी उपर्युल्लिखित भ० विश्वभूषण के शिष्य थे। इन्होंने सं० १७८३ में 'जिनगुणसम्पत्तिव्रतकथा' रची थी। इन्हीं की 'अष्टक धमारि' नामक रचना हमारे संग्रह में है। उसके आदि और अन्त के छन्द पढ़िये—

"रतन जटित कंचन की झारी, गंग जमुन भरि नीर।
धार देउं जिनवर के आगैं, अघमल रहइ न धीर॥
जिनराज चरण जुग पूजीयै हो।
अहो भवि ज्ञानी पूजित सिवपुर जोइ ॥जलं॥१॥

× × × ×

वसुविधि अरघु चढ़ावौ जिनकौ, जिनकौ(?)आरती करौ मनु लाइ।
मद्धि पावई चंद्राप्रभ पूजौ, ललितकीरति सुषदाइ॥
जिनराज चरण पग पूजीयै हो।
अहो भवि ज्ञानी पूजत सिवपुर जाइ॥"

भ० सुरेन्द्रभूषणजी भी हतिकांत की गद्दी से सम्बन्धित थे। उन्होंने सं० १७५७ में 'श्रुतपञ्चमी व्रतकथा' रची थी, जिसके अन्तिम छन्द यों है—

"सत्रह सौं सत्तानवि जानि, संवति पौष दसै वदि जानि।
हस्तकन्त पुर में यह सचो, श्रीसुरेन्द्र भूपण तहाँ रची॥
यह व्रतुविधि प्रतिपालै जोइ, सो नरनारि अमरपति होइ॥७९॥"

भगतरामजी की रची हुई 'आदित्यवार कथा' संवत् १७६५ के लिपि किये हुये गुटका में सुरक्षित है। कवि ने अपना परिचय इन छन्दों में दिया है, जिनसे उनका नाम बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता—

"हीन अधिक जो अछिरु होइ। बहुरि सवारौ गुनीयर लोइ॥

अग्रवालौ कीयौ वपानु । जननि कुंवरि तिहुनिगिरि थानु ॥
नगर गोतु मल्लको पूतु । भउ कवियन भग्ति संजूतू ॥"

शिरोमणिदासजी पण्डित गङ्गादास के शिष्य थे। उन्होंने भ० सकलकीर्ति के उपदेश से, सिहरोन नगर में रहकर, जहाँ राजा देवीसिंह राज्य करते थे, सं० १७३२ में 'धर्मसार' नामक ग्रन्थ रचा था। कविता साधारण है, परन्तु रचना स्वतन्त्र है। प्रेमीजीने इसमें ७६३ चौपाई लिखे थे, परन्तु हमारे संग्रह की प्रति में उनकी सङ्ख्या ७५५ स्वयं कविने बताई है—

"सात सै पचपन सब्र जानि । दोहा चौपही कही वपानि ॥८८॥"

इसके अतिरिक्त 'सिद्धान्तशिरोमणि' नामक एक छोटा-सा ग्रन्थ इनका रचा हुआ और है; जिसमें इन्होंने श्वेताम्बर यतियों और दिगम्बरीय भट्टारकों के भेष का निषेध किया है। उस समय की सामाजिक स्थिति का पता इन ग्रन्थों से अच्छा चलता है। उदाहरण देखिये—

"नहीं दिगंबर नहीं वृत धार, ये जती नहीं भव भमैं अपार ।
यह सुनकै कछु लीजै सार, उतरै चाहौ भव कै पार ॥५७॥
सिद्धान्त सिरोमनि सास्त्र को नाम, कीनौ समकित रापिवै कैं काम ।
जो कोउ पढै सुनै नरनारि, समकित लहै सुद्ध अपार ॥५८॥

कवि मंगल कृत 'कर्म्मविपाक' नामक रचना हमारे संग्रह के एक गुटका में है। अन्तिम छन्द इस प्रकार है—

"मंगल मिथ्या छांड़ि दै, यह संसारु असारु ।
भजौ एक भगवंत कौ, ज्यौं उतरो भव पार ॥६३॥
जा सुमिरै सुषु ऊपजै, अन्तकाल विश्रामु ।
कोटि विघन टूटै टलैं, सीझै वांछित काम ॥६४॥"

कवि सन्तलाल का रचा हुआ एक 'सिद्धचक्रपाठ' मिलता है। उन्हीं के रचे हुए सम्भवतः 'दशलाक्षिणिक अंग' भी हैं; उसके अन्तिम छन्द से यही ध्वनित होता है—

"जो ए पढइ पढावहि सन्तु, लिपै लिपावै जोर महंतु।
धर्म बढै बहु तासकों,.............................."

कवि रतन कृत 'सामुद्रिक शास्त्र' हिन्दी में सं० १७४५ का रचा हुआ श्री शान्तिनाथ दि० जैन मन्दिर अलीगञ्ज में है। वह बहुत अशुद्ध लिखा हुआ है। परन्तु अपने विषय की अच्छी रचना है। कवि ने अपना परिचय यों दिया है—

"सेवक मोहनलाल के, नरवर गढ़ी विश्रामु ॥३३५॥
तिनिको सुत कवि रतन हुव कीनौ ग्राथु (ग्रन्थ) विचारि।
सत कवि याकौ देपि कै, लीजौ सकल सुधारि ॥३३७॥
बुधि माफिक बरनन कियौ, बुधि विनोद मन आनि।
जाहि पढ़त बुधि बढ़ति अति, होइ सकल गन पानि ॥३३८॥"

बिजैरामजी के कुछ पद मिलते हैं। इनकी कोई स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नहीं है। नमूना देखिये—

"मति तेरी मन्द भई, हो चेतन, मति तेरी मन्द भई।
आप कुमायु (कमाओ) पाप मगन ह्वै, दोप जु देत दई ॥ हो चेतनु० ॥१॥
गुरुकी सीप एक नहीं मानी, सुनि करि करी गई। (?)
विषै भोग तैं सुपकरि मान्यौ, जिन गुण सुधि न लई ॥ हो० ॥२॥
मन तेरो फिरतु चहुँदिस प्रांनी, ज्यौं दधि मांहि रई।
चेत सबै तो चेत मनुप, मति भ्रम तैं बहु तपई ॥ हो० ॥३॥
करुणाकरि समकति चित रापौ, संगति साधु मई।
बिजैराम कहत सिप न कुलै, जो जात लई ॥हो०॥१४॥ ?"

जगतराय अथवा जगतराम ने सं० १७२१ में 'पद्मनन्दिपच्चीसी' छन्दबद्ध रची थी। इनके रचे हुए आगमविलास और सम्यक्त्व-कौमुदी नामक ग्रन्थ भी हैं। एक पद देखिये—

"जिन दरसन पाये, आज नैना सुफल भये ॥ जिन० ॥
रोम रोम आनन्द भयो है, अशुभ कर्म गये भाज ॥ जिन० ॥
काल अनादि मैं निस दिन भवको, सरो न मन को काज ॥ जिन० ॥
'राम' दास प्रभू जही माँगत हैं, मुक्ति सिखर को राज ॥ जिन० ॥"

इनके पद छोटे और भक्तिरसपूर्ण होते हैं।

देवदत्त दीक्षित ने भ० सुरेन्द्रभूषण (सं० १७५८) के उपदेश से 'चन्द्रप्रभ पुराण' छन्दबद्ध रचा था, जिसकी अधूरी प्रति जसवन्तनगर के मन्दिर में मौजूद है। उसका मंगलाचरण निम्न प्रकार है और उसमें लिखा है कि 'भ० जिनेन्द्रभूषणोपदेष्ट श्री दीक्षितदेवदत्तकृते'—

"सब विधि हित विधि उदित सरव सिधि मुदित अंकधर।
वंचकता वरजित सुभाव संतत विसंकहर ॥
पर अभेदि जो सुन गुनत उर सुप विस्तारहि।
सरनागत मन भव्य जीव जन गन जो तारहि ॥
अस जिन अगम प्रवर पढ़त हरत जनमरु मरन।"

बुलाकीदासजी का जन्म आगरे में हुआ था। वह गोयल-गोत्री अग्रवाल दि० जैन श्रावक थे। उनके पूर्वज बयाना (भरतपुर) में रहते थे। उनके पितामह श्रवणदास बयाना छोड़कर आगरे में आ बसे थे। उनके पुत्र नन्दलालजी को सुयोग्य देखकर पं० हेमराजजी ने उन्हें अपनी कन्या व्याह दी थी, जिसका नाम

'जैनी' था। हेमराजजी ने उस कन्या को बहुत ही बुद्धिमती और व्युत्पन्न बनाई थी। बुलाकीदासजी का जन्म इन्हीं के गर्भ से हुआ था। उन्होंने स्वयं अपनी माता की प्रशंसा में लिखा है कि—

"हेमराज पंडित बसै, तिसी आगरे ठाइ।
गरग गोत गुन आगरौ, सब पूजैं जिस पाइ॥
उपगीताकै देहजा, 'जैनी' नाम विख्याति।
सीलरूप गुन आगरी, प्रीति नीति की पाँति॥
दीनी विद्या जनक नैं, कीनी अति व्युत्पन्न।
पंडित जापैं सीखलैं, धरनीतल में धन्न॥

सुगुनकी खानि कीधौं सुकृत की वानि शुभ,
कीरतिकी दानि अपकीरति-कृपानि है।
स्वारथ विधानि परस्वारथकी राजधानि,
रमाहू की रानि कीधौं जैनी जिनवानि है॥
धरम धरनि भव भरम हरनि कीधौं,
असरन सरनि कीधौं जननी-जहानि है।
हेमसौं.........पन सीलसागर.........भनि,
दुरित दर्शन सुरसरिता समानि है॥"

अठारहवीं शताब्दि में जैनी-जैसी सुशिक्षित महिलारत्न का होना बड़े गौरव की बात है। बुलाकीदासजी अपनी माता के साथ उपरान्त दिल्ली में आ रहे थे। वहाँ उन्होंने 'पाण्डवपुराण' (भारत भाषा) की रचना अपनी माता के आग्रह से की थी और उसके अन्त में उन्होंने अपनी माता के प्रति खूब भक्ति प्रकट की थी। प्रेमीजी ने लिखा है कि 'रचना मध्यम श्रेणी की है, पर कहीं कहीं बहुत अच्छी है। कवि में प्रतिभा है, परंतु वह

मूल ग्रन्थ की कैद के कारण विकसित नहीं हो पाई।' यह ग्रन्थ सं० १७५४ में बना था।

कविवर भूधरदासजी भी आगरे के रहने वाले थे और जाति के खंडेलवाल थे। इससे अधिक उनका कुछ परिचय ज्ञात नहीं होता। उनके बनाये हुए तीन ग्रन्थ मिलते हैं—(१) पार्श्व पुराण, (२) जैनशतक और (३) पदसंग्रह। 'पार्श्वपुराण में तेईसवें तीर्थङ्कर भ० पार्श्वनाथ का जीवन-कथानक बहुत ही सुन्दर रीति से प्रतिपादित है। हिन्दी जैन-साहित्य में यही एक सुंदर स्वतंत्र काव्य है। प्रेमीजी ने इसके विषय में लिखा है कि "हिन्दी के जैन साहित्य में 'पार्श्वपुराण' ही एक ऐसा चरित ग्रन्थ है, जिसकी रचना उच्च श्रेणी की है, जो वास्तव में पढ़ने योग्य है और जो किसी संस्कृत प्राकृत ग्रन्थ का अनुवाद करके नहीं किन्तु स्वतन्त्र रूप से लिखा गया है।" इसकी रचना में सौन्दर्य तथा प्रसाद गुण है। थोड़े से पद्य देखिये—सज्जन और दुर्जन के विषय में कवि की सूझ कैसी अनूठी है—

"उपजे एकहि गर्भसौं, सज्जन दुर्जन येह।
लोह कवच रक्षा करैं, खांड़ौ खंडै देह॥
दुर्जन और सलेखमा, ये समान जग मांहि।
ज्यों ज्यों मधुरो दीजिये, त्यों त्यों कोप कराहिं॥
दुर्जन जनकी प्रीति सौं, कहो कैसे सुख होय।
विषधर पोषि पियूषकी प्रापति सुनी न लोय॥
तपे तवा पर आय स्वाति जलबूंद विनट्ठी।
कमलपत्र परसंग, वही मोतीसम दिट्ठी॥
सागर सीप समीप, भयो मुक्ताफल सोई।
संगत को परभाव, प्रगट देखो सब कोई॥

यों नीच संग तैं नीचफल, मध्यम तैं मध्यम सही।
उत्तम सँजोग तैं जीवको, उत्तम फल प्रापति कही ॥ १२३ ॥"

किन्तु सज्जन दुर्जनद्वारा दुखी किये जाने पर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता—

"दुर्जन दूखित संतकौ, सरल सुभाव न जाय।
दर्पण की छवि छारसौं, अधिकहि उज्जल थाय ॥"

कुव्यसन-रत पुरुष की क्या गति होती है, यह भी कवि की वाणी में पढ़िये—

"पिता नीर परसै नहीं, दूर रहै रवि यार।
ता अंबुज में मूढ़ अलि, उरझि मरै अविचार ॥
त्यों ही कुविसनरत पुरुष, होय अवस अविवेक।
हित अनहित सोचै नहीं, हिये विसन की टेक ॥"

बीभत्स-रस का चित्रण निम्न पद्य में करते हुए, भ० पार्श्व की चरित्रदृढ़ता को कवि ने किस उत्तम रीति से प्रकट किया है, यह भी पाठक, देखिये—

"किलकिलंत बेताल, काल कज्जल छवि सज्जहिं।
भौं कराल विकराल, भाल मदगज जिमि गज्जहिं ॥
मुंडमाल गल धरहिं लाय लोयननि डरहिं जन।
मुख फुलिंग फुंकरहिं करहिं निर्दय धुनि हन हन ॥
इहि विध अनेक दुर्भेप धरि, कमठ जीव उपसर्ग किय।
तिहुं लोकवंद जिनचंद्र प्रति, धूलि डाल निज सीस लिय ॥"

यह काव्य ही भूधरदासजी को एक अच्छा कवि प्रमाणित करता है। इनका यह ग्रन्थ दो बार छप चुका है।

दूसरा ग्रन्थ 'जैनशतक' नीति की सुन्दर रचना है। इसमें १०७ कवित्त सवैया, दोहा और छप्पय हैं। प्रत्येक पद्य अपने अपने विषय को कहने वाला है। इसे एक प्रकार का 'सुभाषित संग्रह' कहना चाहिए। इसका प्रचार भी बहुत है। कुछ उदाहरण देखिये—

"जौलौं देह तेरी काहू रोग सों न घेरी जौलौं,
जरा नाहिं नेरी जासौं पराधीन परिहै।
जौलौं, जम-नामा वैरी देय न दमामा जौलौं,
मानै कान रामा बुद्धि जाइ ना बिगरिहै॥
तौलौं मित्र मेरे निज कारज सँवार लेरे,
पौरुष थकैंगे फेर पीछे कहा करिहै।
अहो आग आयैं जब झौंपरी जरन लागी,
कुआ के खुदायैं तब कौन काज सरिहै॥"

संसार जीवन की छलना भी कवि-वाणी में समझिये—

"चाहत है धन होय किसी विध, तौ सब काज सरैं जियरा जी।
गेह चिनाय करूं गहना कछु, ब्याहिं सुतासुत बाँटिये भाजी॥
चिन्तत यौं दिन जाहिं चले, जम आनि अचानक देत दगा जी।
खेलत खेल खिलारि गये, 'रहि जाइ रुपी शतरंज की बाजी॥'

शिकारी के प्रति मूक पशु की फरियाद भी कवि के मुख से सुनिये:—

"कानन में बसै ऐसौ आन न गरीब जीव,
प्रानन सौं प्यारौ प्रान पूँजी जिस यहै है।
कायर सुभाव धरै काहूँ सौं न द्रोह करै,
सबही सौं डरै दांत लियैं तन रहै है॥

काहू सौं न रोप पुनि काहूपै न पोप चहै,
काहू के परोष परदोप नाहिं कहै है।
नेकु स्वाद सारिवे कौं ऐसे मृग मारिवे कौं,
हा हा रे कठोर तेरौ कैसें कर वहै है॥"

तीसरा ग्रन्थ 'पदसंग्रह' है, जिसमें कवि के ८० पद, विनती आदि का संग्रह है। एक पद की वानगी लीजिये—

"चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना॥ टेक॥
पग खूँटे दूय हालन लागे, उर मदरा खखराना।
छीदी हुईं पांखड़ी पसलीं, फिरै नहीं मनमाना॥ १॥
रसना तकली ने बलखाया, सो अब कैसें खूंटै।
सबद सूत सूधा नहिं निकसैं, घड़ी घड़ी पल टूटै॥ २॥
आयु मालका नहीं भरोसा, अंग चलाचल सारे।
रोज़ इलाज मरम्मत चाहै, वैद बाढ़ई हारे॥ ३॥
नया चरखला रंगा चंगा, सबका चित्त चुरावै।
पलटा वरन गये गुन अगले, अब देखें नहिं भावै॥ ४॥
मौटा महीं कात कर भाई, कर अपना सुरझेरा।
अंत आग में ईंधन होगा, 'भूधर' समझ सबेरा॥ ५॥"

द्यानतरायजी ॐ भी आगरे के निवासी थे और थे गोयल गोत्री अग्रवाल श्रावक। इनके पूर्वज लालपुर से आकर आगरे में बसे थे। इनके पितामह का नाम वीरदास और पिता श्यामदास थे। कवि का जन्म सं० १७३३ में हुआ था और ब्याह सं० १७४८ में हुआ, जब वह १५ वर्ष के युवक थे। उस समय आगरे में मानसिंहजी की धर्मशैली थी। द्यानतरायजी ने उससे लाभ उठाया। पं० बिहारीदास और पं० मानसिंहजी के धर्मोपदेश से वह जैन-

ॐ हि० जै० सा० इ० पृ० ५८।

धर्म के श्रद्धालु सं० १७४३ में हुए थे। मालूम होता है कि युवावस्था में कवि वासना में फँस गये थे; तभी तो वह कहते हैं कि 'पछत्तर में माता मेरी' सील बुद्धि ठीक करी।' सतहत्तरि में उन्होंने शिखिर जी की यात्रा की थी। जैनधर्म के अध्ययन में उन्होंने अपना समय लगाया। कभी आगरा और कभी दिल्ली में रह कर साहित्य रचना की थी। दिल्ली में पं० सुखानन्दजी की शैली थी। कवि की सब ही रचनाओं का संग्रह 'धर्मविलास' नामक ग्रंथ में है, जो संवत् १७८० में रचकर समाप्त किया गया था। कुछ अंश को छोड़ कर यह छप चुका है। यह संग्रह बहुत बड़ा है। इसमें अकेले पदों की ही संख्या ३३३ है। पदों और पूजाओं के अतिरिक्त ४५ विषयों की अन्य रचनाएँ हैं। रचनाओं के देखने से विदित होता है कि द्यानतरायजी एक अच्छे कवि थे। 'कठिन विषयों को सरलता से समझाना इन्हें खूब आता था।' शायद यही सबसे पहले कवि हैं जिन्होंने हिन्दी में अनेक पूजाएँ रचीं और भक्तिवाद—'दासोऽहं' भावना का बीज 'सोऽहं. भावना रूपी अध्यात्मफल की प्राप्ति हेतु जैन साहित्य में बोया था। रचनाओं का नमूना देखिये—

"रुजगार बनै नाहिं धन तौ न घरमाहिं,
खाने की फिकर बहु नारि चाहै गहना।
देनेवाले फिरि जाहिं मिलै तौ उधार नाहिं,
साझी मिलैं चोर धन आवै नाहिं लहना॥
कोऊ पूत ज्वारी भयौ घरमांहिं सुत थयौ,
एक पूत मरि गयौ ताकौ दुःख सहना।
पुत्री वर जोग भई ब्याही सुता जम लई,
एते दुःख सुख जानै तिसै कहा कहना॥"

गृहदुःख का क्या .खूब चित्रण है। तीन अन्य सवैयों में भी गृहदुःख को कवि ने खूब ही जताया है। कवि का यह उपदेशी पद्य क्या आधुनिक कविता की समता नहीं करता? ज़रा ग़ौर कीजिये—

"ज़िन्दगी सहल पै नाहक धरम खोवै,
ज़ाहिर जहान दीखै ख़्वाब का तमासा है।
कबीले के ख़ातिर तू काम बद करता है,
अपना मुलक छोड़ि हाथ लिये कांसा है॥
कौड़ी कौड़ी जोरि जोरि लाख कोरि जोरता है,
काल की कुमुक आएँ चलना न मासा हैं।
साइत न फरामोश हूजिये गुसईं या को,
यही तो सुख़न .खूब येही काम खासा है॥४४॥"

'धर्मविलास' की रचना करके अपना निरीहपन कवि ने किस सुन्दरता से दर्शाया है, यह देखिये—

"अच्छर सेती तुक भई, तुक सौं हूए छंद।
छंदन सौं आगम भयौ, आगम अरथ सुछंद॥
आगम अरथ सुछंद, हमौनैं यह नहिं कीना।
गंगा का जल लेय, अरघ गंगा कौं दीना॥
सबद अनादि अनंत, ग्यान कारन बिन मच्छर।
मैं सब सेती भिन्न, ग्यानमय चेतन अच्छर॥५४॥"

ग्रन्थ प्रशस्ति में कवि ने उस समय की कई ऐतिहासिक बातों का उल्लेख किया है। आगरा के विषय में उन्हों ने लिखा है—

"इधैं कोट उधैं बाग जमना बहै है बीच,
पच्छम सौं पूरब लौं असीम प्रवाह सौं।

अरमनी कसमीरी गुजराती मारवारी,
नरों सेती जामैं बहु देस बसैं चाह सौं ॥
रूपचंद बानारसी चंदजी भगोतीदास।
जहाँ भले भले कवि द्यानत उछाह सौं।
ऐसे आगरे की हम कौन भाँति सोभा कहैं,
बड़ौ धर्मथानक है देखिये निवाह सौं ॥"

दिल्ली शहर में नहर उनके समय में निकली थी,† मुहम्मद-शाह मुगल बादशाह के राज्य में लोग कैसे सुखी थे, यह सब कुछ कवि ने बताया है।

श्री भावसिंहजी और श्री जीवराजजी की संयुक्त रचना 'पुण्यास्रवकथाकोष' की एक प्रति जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (नं० ८४) में विराजमान है। यह रचना मुनि शिवनन्दि के शिष्य मुनि रामसेनकृत संस्कृत-भाषा के ग्रन्थ का पद्यानुवाद है। इसमें कुल ५६ कथाएँ हैं। भावसिंहजी ने पण्डित दौलतरामजी की भाषा टीका के आधार से इसका पद्यानुवाद प्रारम्भ किया था और 'शीलाधिकार' तक वे इस ग्रन्थ को रच पाये थे कि उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी यह रचना अधूरी रह गई। शायद रुग्णावस्था में ही उन्होंने अपनी यही अधूरी कृति जीवराजजी के पास भेज दी थी, जिन्होंने पण्डित भैरोंदास के उपदेश से इसे सं० १७९२ में रच कर पूरा किया। इससे अधिक रचयिताओं का परिचय कुछ ज्ञात नहीं होता। उदाहरण देखिये—

"वर्द्धमान जिन बन्दिकै, तत्त्व प्रकासन सार।
पुण्याश्रव भाषा करूँ, भवि जीवन हितकार ॥१॥

× × × ×

---

† 'दिल्ली में नहरि आई तैसैं यह कविताई।'

कर्म न भेद्रा आतमा, कर्मन भेदो जोइ।
आतमपद परमातमा, निहचै धारै सोइ ॥६१॥
जो वांछा सिव पद धरै, राग दोष कौं गार।
ममता तजि समता भजौ, काम क्रोध कों मार ॥६२॥
प्रभुको सुमरण ध्यान करि, पूजा जाप विधान।
जिन प्रणीत मारग विषै, मगन होउ मतिमान ॥६३॥"

गोवर्द्धनदासजी पानीपत के रहने वाले थे। उनके पिता का नाम नन्दलाल था। लक्ष्मीचन्दजी उनके गुरु थे। सं० १७६२ में उन्होंने एक 'शकुनविचार' नामक शास्त्र की रचना की थी। उसकी एक प्रति श्री पञ्चायती मन्दिर, दिल्ली के भण्डार में (नं० लू १) सं० १८७४ की पण्डित चेतनदास की लिखी हुई है। कुल ५ पत्रे हैं। रचना का नमूना देखिये—

"स्वस्ति श्री जिनराज मुक्ति सुन्दर वरनायक,
सकल जगत सुपकार सरव मंगल वरदायक।
सजल जलद सम अंग विमल लक्षण गुणधारक,
मथन कमठ सठ मान ईत भय पापनिवारक॥
सर्प्पाधिराज पद्मावती जाँके वन्दत जुग चरन,
करि जोरि वन्द नति करत नित पार्श्वनाथ भवभय हरन॥

× × × ×

स्वान दाहिने पाँव सौ, पुण्णहि पाज निज सीस।
राज्य लाभ पुनि उदर सुप, कण्ठ गुदा धन दीस ॥१९॥

× × × ×

गुड़ की भेली गुड़उली, मंगलीक परसिद्ध।
जो चलतै सनमुष मिलै, तौ पावै सब सिद्ध ॥२४॥"

× × × ×

लीने श्लोक विचार, शकुनार्णव शुभ ग्रन्थ तैं।
सब जन कौ हितकार, संस्कृत तैं भाषा रची ॥११॥
संवत सत्रह सै बरस, बीते बासठि जानि।
आसु सुदि तिथ पञ्चमी, शशिसुत वार बपानि ॥१२॥
श्री पानीपथ नगर मझारि, जिनधर्मी श्रावक सुषकार।
× × × ×
नंदलाल नंदन सुषकार, श्री गोवर्द्धनदास उदार ॥

यह छोटा-सा सर्वोपयोगी ग्रन्थ है।

किसनसिंहजी* सांगानेर के रहने वाले खण्डेलवाल श्रावक थे। इनका गोत्र पाटणी और पद 'सङ्घी' था। कल्याण सिंघई के दो बेटे—(१) सुखदेव और (२) आनन्द सिंह थे। सुखदेव के थान, मान और किसन सिंह नाम के तीन बेटे हुए। इन्हीं किसन सिंहजी ने सं० १७८४ में 'क्रियाकोष' नामक छन्दोबद्ध ग्रन्थ बनाया। यद्यपि रचना स्वतन्त्र है, परन्तु कविता साधारण है। कुछ समय पहले जैन घरों में इसका बहुत प्रचार था। 'भद्रबाहु-चरित्र' (१७८५) और 'रात्रिभोजनकथा' भी आपकी रचनाएँ हैं।

रूपचन्दजी* पांडे रूपचन्दजी से भिन्न हैं। इनकी रची हुई बनारसीदासकृत 'नाटकसमयसार' की टीका प्रेमीजी ने एक सज्जन के पास देखी थी। वह बड़ी सुन्दर और विशद टीका संवत् १७९८ की बनी हुई है।

दौलतरामजी* बसवा के रहने वाले थे, परन्तु जयपुर में जा बसे थे। उनके पिता का नाम आनन्दराम था। वह जाति के काशलीवाल गोत्री खण्डेलवाल थे और राज्य के किसी बड़े पद पर नियुक्त थे। उन्होंने 'हरिवंशपुराण' की प्रशस्ति में लिखा है—

---

* हिं० जै० सा० इ० पृ० [illegible]

"सेवक नरपति कौ सही, नाम सु दौलतराम।
तातै यह भाषा करी, जपकर जिनवर नाम ॥२५॥"

सं० १७९५ में उन्होंने 'क्रियाकोष' नामक ग्रन्थ लिखा था। उस समय वह 'जयसुत' नामक किसी राजा के मन्त्री थे। उस समय वह उदयपुर में थे—

"संवत सत्रासै पिच्याणव, भाद्व सुदि वारस तिथि जानव।
मंगलवार उदैपुर माहीं, पूरन कीनी संसै नाहीं॥
आनन्दसुत जयसुत कौ मंत्री, जयकौ अनुचर जाहि कहै।
सो दौलत जिनदासनि-दासा, जिन मारग की शरण गहै॥"

जयपुर में रत्नचन्द्रजी दीवान के होने का उल्लेख कवि ने किया है। रायमल्लजी नामक धर्मात्मा सज्जन की प्रेरणा से दौलतरामजी ने आदिपुराण, पद्मपुराण और हरिवंशपुराण की वचनिकाएँ (गद्यानुवाद) लिखी थीं। प्रेमीजी ने लिखा है कि—"इन ग्रन्थों का भाषानुवाद हो जाने से सचमुच ही जैन-समाज को बहुत ही लाभ हुआ है। जैन-धर्म की रक्षा होने में इन ग्रन्थों से बहुत सहायता मिली है। ये ग्रन्थ बहुत बड़े-बड़े हैं। वचनिका बहुत सरल है। केवल हिन्दी-भाषाभाषी प्रान्तों में ही नहीं, गुजरात और दक्षिण में भी ये ग्रन्थ पढ़े और समझे जाते हैं। इनकी भाषा में ढूंढ़ारीपन है, तो भी वह समझ ली जाती है।" योगीन्द्रदेव-कृत 'परमात्मप्रकाश' की और 'श्रीपालचरित्र' की वचनिका भी उन्होंने बनाई थी। टोडरमल्लजी 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' की भाषा-टीका अधूरी छोड़ गये थे। वह भी दौलतरामजी ने पूरी की थी। सं० १७७७ की रची हुई 'पुण्याश्रववचनिका' भी सम्भवतः आपकी कृति है।

देवीसिंहजी × नरवर-निवासी थे। उन्होंने सं० १७९६ में 'उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला' छन्दोबद्ध रची थी।

जीवराज-बड़नगर × निवासी ने सं० १७६२ में 'परमात्मप्रकाश-वचनिका' लिखी थी।

ताराचंद कृत × ज्ञानार्णव छन्दोबद्ध है (सं० १७२८)।

विनोदीलालजी सहजादिपुर के निवासी थे। उन्होंने दिल्ली में आकर 'भक्तामरकथा' (१७४७) और 'सम्यक्त्वकौमुदी' छन्दोबद्ध (१७४९) की रचना की थी। उनकी और भी फुटकर रचनाएँ हैं।

पं० बखतराम † चाटसूँ-निवासी ने सं० १८०० में जयपुर में 'धर्म्मबुद्धि की कथा' एवं 'मिथ्यात्वखंडनवचनिका' बनाई थीं।

पं० भैरौंदासजी ❀ ने सं० १७९१ में 'सोलहककारणव्रतकथा' रची थी। इसके अगले वर्ष उन्होंने 'सुगन्धदशमीकथा' रची थी। कवि मकरंद पद्मावती पुरवाल की रची हुई भी एक 'सुगन्धदशमी-कथा' है।

बुलाकीचंद ❀ कृत 'वचनकोष' (१७३७) है।

रत्नसागर ❀ ने 'रत्नपरीक्षा' रची है।

पन्नालालजी जयपुर के निवासी थे। उनके समय में माधवसिंह नरेश का शासन था। उस समय जयपुर में सेठ चांदमलजी प्रसिद्ध थे, जिनके पुत्र फूलचन्दजी थे। इन फूलचन्दजी के कहने से ही कवि ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' का पद्यानुवाद किया था। इसकी एक प्रति पंचायती मन्दिर दिल्ली में (नं० इ ६) है। दिल्ली के

× हि० जै० सा० इ०. पृ० ६८-७१।

† भा० जै० ग्रं० ना०, पृ० ४-७।

❀ अनेकान्त, वर्ष ८ अंक ६, ७, ८, ९ व १० देखो।

सेठका कूँचा के मन्दिर में भी एक 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' चौपई-बद्ध सं० १७७० का रचा हुआ है। सम्भव है, यह दोनों ग्रन्थ एक हों। नमूना देखिये—

"परम चरनधर के चरन, परम सुमंगल दाय।
हरन करन मद शिवरमन, नमन करूँ शिरनाय ॥१॥
नमूँ समंतभद्र कूं जु भद्रभाव योग तैं,
निवृत्य आपही भये कुव्याधि के प्रयोग तैं।
नमात नैक शीसही प्रचंड तेज जास भो,
विदारि ईश पिंड चंद्रनाथ बिंब भास भो ॥ २ ॥

× × × ×

जिनवच रहस्य कुसुंभ रंग, रंगे सरस सोहंत।
सब गुन संयुत नन्द तसु, फूलचन्द मतिवंत ॥१॥
तिन भाष्यो हम थान तैं, धरम राग सरसाय।
भाषा रत्नकरण्ड की, करो सकल सुखदाय ॥२॥

× × × ×

मन्दिर श्री हरदेव को, नयर लिवाली थान।
स्थान सुखद जिहमें भई, भाषा अति सुख दान ॥

× × × ×

स्वामि समंतभद्र मतिधारी, रत्नकरण्ड रच्यो हितकारी।
मूल तासको भाव सुहायो, संघहि-पन्नालाल दिखायो ॥"

पं० नेमिचन्द्र ❀ ने 'देवेन्द्रकीर्ति की जकड़ी' सं० १७७० में रची थी।

पं० मानसिंह भगवती ❀ ने सं० १७३१ में 'द्रव्यसंग्रह' का पद्यानुवाद किया था।

पं० विशनसिंह ❀ ने सं० १७७३ में 'निशिभोजनकथा' रची थी।

भ० महेन्द्रकीर्ति ❀ की 'नीराजना' नामक रचना पंचायती मन्दिर दिल्ली में है।

महिमोदय उपाध्याय ❀ ने 'पंचाङ्गनिर्माणविधि' सं० १७३३ में रची थी।

कवि सुदामा ❀ ने 'बारहखड़ी' सं० १७६० में बनाई थी।

कवि गंगदास ❀ (पर्वतसुत) का 'महापुराणरास' पंचायती मन्दिर दिल्ली में है।

पं० वेगराज ❀ ने 'होलीकथा' सं० १७६५ में रची थी।

'मिश्रबन्धुविनोद' में निम्नलिखित कवियों का उल्लेख है†

हरखचन्द साधु—श्रीपालचरित्र (१७४०)।

जिनरंग सूरि—सौभाग्यपंचमी (१७४१)

धर्ममन्दिर गणि—प्रबन्धचिन्तामणि, चोपीमुनिचरित्र (१७४१–१७५०)।

हंसविजय जती—कल्पसूत्रटीका (१७८०)।

ज्ञानविजय जती—मलयचरित्र (१७८१)।

लाभवर्द्धन—उपपदी (१७११)

उन्नीसवीं शताब्दि दि० जैनसंघ के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस शताब्दि में पण्डितप्रवर टोडरमलजी और कविवर न्दावन जी हुए थे, जिन्होंने संघ और साहित्य दोनों में ही उल्लेखनीय सुधार किये थे। जैन-समाज स्थितिपालक वनकर विवेक को खो बैठा था—भट्टारकों के अखण्ड राज्य को वह चुपचाप आँख मूँदे

❀ अनेकान्त, वर्ष ४ अंक ६, ७, ८, ९ व १० देखो।

† हि० जै० सा० इ०, पृ० ७१।

हुए मान रहा था—उसका विचार-स्वातंत्र्य अपहृत हो चुका था—उसकी आत्मा 'गुरुडम' के बोझ से दबी हुई तिलमिला रही थी। ऐसे समय में पूज्यवर पं० टोडरमलजी ने क्रान्ति की आग सुलगाई, जिसमें 'गुरुडम' का खोखला पिञ्जर नष्ट हो गया। प्रभू के तेरा पंथ ने भूलों को रास्ता बताया और त्रसितों को सुख की साँस लेने का अवसर दिया। इस सामाजिक स्थिति का प्रभाव साहित्य पर भी हुआ और ऐसी रचनाएँ प्रकाश में आईं जो नये सुधार की पोषक थीं, यद्यपि भक्तिवाद की लहर से वे अछूती न रह सकीं।

पं० टोडरमलजी * इस शताब्दि के सब से बड़े सुधारक, तत्त्ववेत्ता और प्रसिद्ध लेखक थे। दि० जैन सम्प्रदाय में वह ऋषि-तुल्य माने जाते हैं। केवल ३२ वर्ष की अवस्था में ही वह ऐसा अपूर्व और ठोस काम कर गये हैं कि सुनकर आश्चर्य होता है। टोडरमलजी ने अपनी रचनाओं से जैन-समाज में तत्त्वज्ञान के बन्द हुए प्रवाह को फिर से बहाया था। कर्मफिलॉसफी की चर्चा करना केवल संस्कृत-प्राकृत के ज्ञाता पण्डितों के बाँट में न रहा—टोडरमलजी की रचनाओं को पढ़कर हिन्दी के ज्ञाता साधारण पुरुष और स्त्रियाँ भी तत्त्वचर्चा करने में अग्रसर हुए थे। टोडरमल-जी जयपुर के रहनेवाले थे। वह खण्डेलवाल श्रावक थे। सुनते हैं—जयपुर राज्य के दीवान अमरचन्द्रजी ने आपको अपने पास रख-कर विद्याध्ययन कराया था। १५-१६ वर्ष की उम्र में ही आप ग्रन्थ-रचना करने लगे थे। जैनधर्म के असाधारण विद्वान् थे। आपका सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गोम्मटसारवचनिका' है, जिसमें

---

* हि० जै० सा० इ०, पृ० ७२-७३।

लब्धिसार और क्षपणासार भी शामिल है। इसकी श्लोक-संख्या लगभग ४५ हजार है। यह नेमिचन्द्र स्वामी के प्राकृत 'गोम्मटसार' की भाषाटीका है। इसमें जैनधर्म के कर्म-सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन है। दूसरा ग्रन्थ त्रैलोक्यसारवचनिका है। यह भी प्राकृत का अनुवाद है। इसमें जैनमत के अनुसार भूगोल और खगोल का वर्णन है। इसकी श्लोकसंख्या लगभग १०-१२ हजार होगी। तीसरा ग्रन्थ गुणभद्रस्वामीकृत संस्कृत 'आत्मानुशासन की वचनिका' है। इसमें बहुत ही हृदयग्राही और आध्यात्मिक उपदेश हैं। भर्तृहरि के वैराग्यशतक के ढंग का है। शेष दो ग्रन्थ अधूरे हैं—१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की वचनिका और २. मोक्षमार्गप्रकाशक। इनमें से पहले ग्रन्थ को तो पं० दौलतरामजी काशलीवाल ने पूर्ण कर दिया था, परन्तु दूसरा ग्रन्थ मोक्षमार्गप्रकाशक अधूरा ही है। यह छप चुका है। ५०० पृष्ठ का है। बिल्कुल स्वतन्त्र है। गद्य हिन्दी में जैनों का यही एक ग्रन्थ है, जो तात्त्विक होकर भी स्वतन्त्र लिखा गया है। इसे पढ़ने से मालूम होता है कि यदि टोडरमलजी वृद्धावस्था तक जीते, तो जैन-साहित्य को अनेक अपूर्व रत्नों से अलंकृत कर जाते। आपके ग्रन्थों की भाषा जयपुर के बने हुए तमाम ग्रन्थों से सरल, शुद्ध और साफ है। अपने ग्रन्थों में मंगलाचरण आदि में जो आपने पद्य दिये हैं, उनके पढ़ने से मालूम होता है कि आप कविता भी अच्छी कर सकते थे। आपकी जन्म और मृत्यु की तिथियाँ हमें मालूम नहीं हैं। आपने गोम्मटसार की टीका वि० सं० १८१८ में पूर्ण की है और आपके पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का शेष भाग दौलतरामजी ने सं० ८२७ में समाप्त किया है अर्थात् इससे वर्ष दो वर्ष पहले

आपका स्वर्गवास हो चुका होगा और यदि आपकी मृत्यु ३२-३३ वर्ष की अवस्था में हुई हो तो आपका जन्म वि० सं० १७९३ के लगभग माना जा सकता है। आपकी लिखी हुई एक धर्ममर्म-पूर्ण चिट्ठी भी है जो आपने मुलतान के पंचों को लिखी थी। यह एक छोटी-मोटी पुस्तक के तुल्य है। छप चुकी है।* गोम्मटसार-वचनिका भी कलकत्ते से प्रकाशित हो चुकी है। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' की पूर्ति का उद्योग स्व० ब्र० शीतलप्रसादजी ने उसका दूसरा खण्ड लिखकर किया था। निस्सन्देह टोडरमलजी-कृत मोक्षमार्गप्रकाशक एक अद्वितीय रचना है। उसकी निर्माण-शैली वैज्ञानिक ढंग की है। यह पुनः प्रकाश में आना चाहिये।

श्रीयुत पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ ने लिखा है कि "श्रीमान् पण्डितप्रवर टोडरमलजी १९ वीं शताब्दि के उन प्रतिभाशाली विद्वानों में से थे जिन पर जैन-समाज ही नहीं, सारा भारतीय समाज गौरव का अनुभव कर सकता है। १८ वीं शताब्दि के अन्त में वा १९ वीं के प्रारंभ में उनका शुभ जन्म ढूँढारदेश के सवाई जयपुर नगर में हुआ था। उनके पिता का नाम जोगीदास था। वे दिगम्बर जैनधर्म के धारक प्रकाण्ड पण्डित थे।···यद्यपि पं० टोडरमलजी के समय अपने या अन्य मतों के ग्रन्थ इतने सुलभ नहीं थे जितने कि आज हैं, फिर भी उन्होंने अपनी मात्र २८ वर्ष की अत्यल्प आयु में उन्हें प्राप्त करके अध्ययन-मनन किया और साथ ही इतना लिखा जितना सतत ५० वर्ष में भी लिखा जाना अशक्य-सा प्रतीत होता है।···आज हम जब २८ वर्ष की आयु में अपना साधारण अध्ययन ही समाप्त नहीं कर पाते, तब पं०

---

* हिं० जै० सा० इति० पृ० ७३-७४

टोडरमलजी इतनी अल्पावस्था में यह अमर रचनायें करके परलोकवासी हो गये थे।

"पं० टोडरमलजी का अध्ययन तो गम्भीर था, साथ ही वे व्याख्यानचतुर और वादविवादपटु भी थे। उनकी विद्वत्ता का प्रभाव राज्य पर भी पड़ा था। इसलिए उन्हें राजसभा में अच्छा स्थान प्राप्त था। उनका प्रखर पाण्डित्य राज्य की विद्वत्परिषद् के पण्डितों को अँखरने लगा और वे कई बार पराजित होने से उन पर द्वेषभाव रखने लगे। कहा जाता है कि इस द्वेष का इतना भयंकर परिणाम हुआ कि ज्ञान के उगते हुए सूर्य को अल्पकाल में ही अस्त हो जाना पड़ा।" (रहस्यपूर्ण चिट्ठी की भूमिका, पृ० ९–१०)।

पं० टोडरमलजी की आध्यात्मिक रचना का स्वाद लीजिये—

"मंगलमय मंगलकरण, वीतराग विज्ञान।
नमहुँ ताहि जातें भये, अरहंतादि महान॥"

× × ×

"मैं आतम अर पुद्गलस्कंध। मिलिकैं भयो परस्पर बंध।
सो असमान जाति पर्याय। उपजो मानुष नाम कहाय॥ ३८॥"

पंडित जी की गद्य-रचना कितनी सुंदर और सुधारवाद को लिये हुए थी, यह भी देखिये—

"गोत्रकर्म के उदय तैं नीच ऊँच कुल विषै उपजै है। तहाँ ऊँच कुल विषै उपजैं आपकौ ऊँचा मानै है अर नीच कुल विषै उपजैं आपको नीचा मानैं हैं। सो कुल पलटने का उपाय तो याकूँ भासै नाहीं। तातैं जैसा कुल पाया तैसा ही कुल विषैं आप मानै है। सो कुल अपेक्षा आपकौं ऊँचा नीचा मानना भ्रम है। ऊँचा कुल का कोई निंद्य कार्य करै तो वह नीचा होइ जाय, अर नीचा कुल विषै कोई श्लाघ्य कार्य करै तौ वह ऊँचा होइ जाय।"

—मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ३०।

कहा जाता है कि दीवान अमरचंद्रजी के कारण पंडितजी को राज्य में एक सम्माननीय पद प्राप्त हुआ था। इस राजकर्मचारी के पद से उन्होंने राजा और प्रजा दोनों को हितकर अनेक कार्य किये। निस्सन्देह टोडरमलजी का नाम जैनसाहित्य में अमर है।

जयचन्द्रजी❀ को प्रेमीजी इस शताब्दि के लेखकों में दूसरे नम्बर पर बिठाते हैं। वह भी जयपुर के रहने वाले थे और छावड़ा गोत्री खंडेलवाल थे। उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की भाषावचनिकायें लिखी हैं—

१. सर्वार्थसिद्धि (१८६१), २. परीक्षामुख (न्यायशास्त्र) (१८६३), ३. द्रव्यसंग्रह (१८६३), ४. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा। (१८६६), ५. आत्मख्यातिसमयसार (१८६४), ६. देवागम (न्याय), (१८८६), ७. अष्टपाहुड (१८६७), ८. ज्ञानार्णव (१८६९), ९. भक्तामरचरित्र (१८७०), १०. सामायिकपाठ, ११. चन्द्रप्रभकाव्य के द्वितीय सर्ग का न्यायभाग, १२. मतसमुच्चय (न्याय), १३. पत्रपरीक्षा (न्याय)।

ये सब अनुवाद संस्कृत-प्राकृत के कठिन २ ग्रन्थों के हैं। इनमें पाँच तो केवल न्याय विषय के हैं, अवशेष तात्त्विक ग्रंथ हैं। 'भक्तामरचरित्र' केवल एक कथाग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त जयचंद्रजी के रचे हुए अच्छे २ पद और विनतियाँ भी मिलती हैं। 'द्रव्यसंग्रह' का पद्यानुवाद भी उन्होंने किया था। इनकी लिखी हुई एक छंदबद्ध चिट्ठी प्रेमीजी ने प्रकाशित की थी। वह सं० १८७० की लिखी हुई है। उसका नमूना यह है—

❀ हि० जै० सा० इ० पृ० ७३–७४।

"वर पत्र मित्र को प्रीति धरि, पढ़ैं रीति यह सज्जना।
तब मिलने के सम होय सुख, सुधा पयोनिधि मज्जना॥
जैसे वृन्दावन मांहि नारायन केलि करी,
तैसे 'वृन्दावन' मित्र केरे है बनारसी।
वंशरीति रागरंग ताल ताल आये गये,
मान ठान आनि आनि धरेगा बनारसी॥
कुंजगली आपन में पण्य धरें अंबर को,
अंगना को अर्थ लेय देत यों बनारसी।
हर कर्म राक्षस को निकट न आन देत,
संतनि सों प्रीति जाकी ऐसा भावनारसी॥"

मित्र के लिए शाश्वतानन्ददायी शिवरमणी वर लेने की कामना भी क्या खूब है—

"अनुभौ करि आतमशुद्ध गहो।
तजि बंध विभाव निचिंत रहो॥
जिन आगमसार सुशीश धरो।
शिव कामिनि पावनि वेगि वरौ॥"

जयचंद्रजी की गद्यशैली भी अच्छी है। उनके कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

वृन्दावनजी* इस शताब्दि के सर्वश्रेष्ठ जैनकवि हैं। उनका जन्म शाहाबाद जिले के बारा नामक ग्राम में सं० १८४८ को हुआ था। वह गोयल गोत्री अग्रवाल थे। उनके पिता का नाम धर्मचन्दजी था। जब कवि १२ वर्ष के थे तब वह सं० १८६० में अपने पिता के साथ बनारस में आ रहे थे। वहाँ उस समय श्री काशीनाथजी आदि विद्वज्जनों की सत्संगति का लाभ वृन्दावनजी

---

* हि० जै० सा० इ०, पृ० ७३-७५।

को प्राप्त हुआ था। कविवर काशी में बाबरशहीद की गली में रहते थे। उनके वंशज अब तक आरा में मौजूद हैं। कविवर के ज्येष्ठ पुत्र बाबू अजितदास की ससुराल आरा में थी और वह वहाँ ही रहने लगे थे। अपने पिता की तरह वह भी कवि थे। कविवर ने 'छन्दशतक' की रचना उन्हीं के लिए की थी। कविवर की इच्छा थी कि तुलसीकृत 'रामायण' के सदृश एक जैन रामायण बनाई जावे, तो संसार का बहुत उपकार हो, परन्तु उनकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हुई। निदान अन्तिम साँस लेते हुए अपने पुत्र से कविवर ने कहा कि वह उनकी इस इच्छा को पूर्ण करें। योग्य पुत्र ने यही किया। उन्होंने 'जैन रामायण' रची, परंतु उन्होंने उसके ७१ सर्ग ही पूर्ण कर पाये थे कि वह असमय में ही काल-कवलित हो गये! इस तरह कविवर की इच्छा पूर्ण न हुई। वह अधूरी रामायण भी अप्रकाशित है। बाबू हरिदासजी उसकी पूर्ति करना चाहते थे, परंतु वह उसमें सफल हुए या नहीं, यह अज्ञात है।

कविवर की माता का नाम सिताबी था और उनकी पत्नी का रुक्मणी था। रुक्मणी एक धर्मपरायण और पतिव्रता रमणी थीं। वह लिखना पढ़ना भी अच्छी तरह जानती थीं। कविवर ने निम्नलिखित छन्द उन्हीं को लक्ष्य करके रचा ऐसा प्रतीत होता है—

"प्रमदा प्रवीन व्रतलीन पावनी।
दिढ़ शीलपालि कुल रीति राखिनी॥
जल अन्न शोधि मुनिदानदायिनी।
वह धन्य नारि मृदुमंजुभाषिनी॥"

वृन्दावनजी की ससुराल भी काशी में थी। उस समय प्रजा की निजी टकसालें थीं, जिनमें सिक्के ढाले जाते थे। कविवर की ससुराल में भी एक टकसाल थी। एक दिन जब वह वहाँ थे, तब एक किरानी अंग्रेज टकसाल देखने आया, परन्तु कविवर ने उसे टकसाल नहीं दिखाई। अंग्रेज लौट गया। वृन्दावनजी सरकारी खजाँची हो गये। वही अंग्रेज वहाँ कलक्टर होकर आया। आते ही उसने कविवर को पहचान लिया। वह दण्ड देने को तुल पड़ा। हठात् उसने कविवर को तीन मास का कारावास बोल दिया। कारावास में कविवर ने 'हो दीनवन्धु श्रीपति करुणा-निधानजी' शीर्षक वाली कविता रची। एक रोज कलक्टर ने भी उन्हें यह कविता पढ़ते और आँसू बहाते देखा। वह प्रभावित हुआ। उसने कविता का अर्थ समझा और कविवर को मुक्त कर दिया। इसीलिए यह कविता सङ्कटमोचन नाम से प्रसिद्ध है। इसका प्रचार भी खूब है। इसमें भक्तिवाद का पूर्ण चित्रण है—वीतरागविज्ञानता का स्थान इसमें भक्ति-रस ने ले लिया है।

प्रेमीजी ने लिखा है कि "वृन्दावनजी स्वाभाविक कवि थे। उन्हें जो कवित्वशक्ति प्राप्त हुई थी, उनमें जो कविप्रतिभा थी, उसका उपार्जन पुस्तकों अथवा किसी के उपदेश द्वारा नहीं हुआ था, किन्तु वह पूर्व जन्म के संस्कार से प्राप्त हुई थी। उनकी कविता में स्वाभाविकता और सरलता बहुत है। शृंगाररसकी कविता करने की ओर भी उनकी कभी प्रवृत्ति नहीं हुई। जिस रस के पान करने से जरामरणरूप दुख अधिक नहीं सताते हैं और जिससे संसार प्रायः विमुख हो रहा है, उस अध्यात्म तथा भक्तिरस के मंथन करने में ही कविवर की लेखनी डूबी रही है।"

कविवर का रचा हुआ मुख्य ग्रन्थ 'प्रवचनसार टीका' है। यह प्राकृत ग्रन्थ का पद्यानुवाद है। इसे सर्वश्रेष्ठ बनाने के लिये उन्होंने तीन बार परिश्रम किया था। यथा—

"तब छन्द रची पूरन करी, चित न रुची तब पुनि रची।
सोऊ न रुची तब अब रची, अनेकान्त रस सौं मची॥"

दूसरा ग्रन्थ 'चतुर्विंशति जिन पूजा पाठ' और तीसरा 'तीस चौबीसी पूजापाठ' है। चौबीस पूजापाठ का प्रचार अत्यधिक है। वह कई बार प्रकाशित हो चुका है। उसमें २४ तीर्थङ्करोंकी पूजायें हैं। शब्दालङ्कार अनुप्रास, यमक आदि की इनमें भरमार है; पर भाव की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया, जितना शब्दों की ओर दिया गया है। तीसरा ग्रन्थ 'छन्द शतक' है, जो अत्यन्त सुन्दर रचना है। विद्यार्थियों के लिये इससे अच्छा और सरल छन्दशास्त्र शायद ही दूसरा होगा। प्रेमीजी ने तो लिखा है कि 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की प्रथमा परीक्षा में यह पाठ्य पुस्तक बनने के योग्य है।' संस्कृत के वृत्तरत्नाकर आदि ग्रन्थों की नाईं प्रत्येक छन्द के लक्षण और नाम आदि उसी छन्द में दिये हैं और प्रत्येक छन्द में अच्छी-अच्छी निर्दोष शिक्षायें भरी हुई हैं। एक उदाहरण—

"चतुर नगन मुनि दरसत,
भगत उमग उर सरसत।
नुति थुति करि मन हरसत,
तरल नयन जल बरसत॥"

इसे कविवर ने सं० १८९८ में केवल १५ दिन में रचा था। श्री जमनालालजी विशारद वर्धा इसको प्रकाशित करने वाले हैं। वैसे 'वृन्दावन विलास' में एक बार यह छप चुका है।

चौथा ग्रन्थ कविवर की तमाम फुटकर कविताओं का संग्रह 'वृन्दावन विलास' है, जो एक बार छप चुका है। 'अर्हन्त पासा केवली' भी उनका रचा हुआ है। 'वृन्दावन विलास' की रचनाओं का नमूना देखिये—

"जो अपनो हित चाहत है जिय, तौ यह सीख हिये अवधारो।
कर्मज भाव तजो सबही निज, आतमको अनुभौ रस गारो॥
श्री जिनचंद सों नेह करो मित, आनंद कंद दशा विसतारो।
मूढ़ लखै नहिं गूढ़ कथा यह, गोकुल गाँव को पैड़ों ही न्यारो॥"

एक पद भी देखिये—

"हमारी बेरियाँ काहे करत अवार जी॥ टेक॥
इह दरबार दीन पर करुना, होत सदा चलि आई जी॥ हमारी०॥
मेरी विथा विलोकि रमापति, काहे सुधि विसराई जी॥ २॥
मैं तो चरन कमलको किंकर, चाहूँ पद सेवकाई जी॥ ३॥
हे प्राणनाथ तजो नहिं कबहूँ, तुमसों लगन लगाई जी॥ ४॥
अपनो विरद निवाहो दयानिधि, दे सुख वृन्द बड़ाई जी॥ ५॥"

बनारसीदासजी का रचा हुआ 'भविष्यदत्त चरित्र' पञ्चायती मन्दिर दिल्ली में मौजूद है। वह सं० १८९९ का लिपि किया हुआ है। उदाहरण—

"पञ्च परम गुरु कौं नमौं, परम हिये धर भाव।
भवसदत्त जस विस्तरौं, सारद करौं पसाव॥

× × × ×

जिय भवसदत संजस लिया, उपज्या सुरह मिलांण।
फिर निरवांणों पद लह्या, बावीस सन्धि सुप्रमाण॥८४॥"

कवि का नाम लिपि कर्त्ता पण्डित जमनादास ने लिखा है।

धर्मदासजी कृत 'इष्टोपदेश टीका'की जैन सिद्धान्त भवन आरा में अधूरी प्रति है। मंगला चरण से उनका नाम स्पष्ट है—

"पूज्यपाद मुनिराज जी, रच्यो पाठ सुपदाय।
धर्मदास वंदन करै, अन्तर घटमें जाय॥"

अखयराजजी की रची हुई 'विषापहार स्तोत्र टीका' उक्त भवन में है। लेखक ने केवल अपना नाम ही ध्वनित किया है—

"स्तोत्र जु विपापहार, भूल चूक कछु वाक्य ही।
ज्ञाता लेहु सँवार, अषैराज अरजैत इम॥"

बिहारीलालजी कृत 'यशोधर चरित्र' उक्त भवन में है। कविता साधारण है। कवि ने केवल अपना नाम अन्त में लिखा है—

"राय जसोधर चरित यह, पूरन भयो विसाल।
हिरदे हरप वहु धारिके, लिपी बिहारीलाल॥"

ज्ञानानन्द श्रावकाचार की एक प्रति आरा के उक्त भवन में सं० १८५८ की लिपि की हुई है। यह गृहस्थाचार की एक स्वतन्त्र रचना है और उस समय की सामाजिक स्थिति की परिचायक है। रचयिता का नाम नहीं दिया है। यह छप भी चुका है।

चेतनकवि ने सं० १८५३ में 'अध्यात्मबारहखड़ी' नामक रचना रची थी, जिसकी एक प्रति 'जैन सिद्धान्तभवन' आरा में है। कविता अच्छी और उपदेशपूर्ण है। उदाहरण देखिये—

"गरब न कीजै प्राणियां, तन धन जोबन पांय।
आखिर ए थिर ना रहै, थित पूरे सब जाय॥२५॥
गाढै रहियै धरम मैं, करम न आवै कोय।
अनहोनी होनी नहीं, होनी होय सो होय॥२६॥

गिर पर चढ़ते जायकै, जिहां तीरथ तिहां जांहि।
तेरो प्रभु तुझ पास है, पै तुझ सूझत नांहि॥२७॥

× × × ×

गेह छोड़ वन में गये, सरे न एको काम।
आसा तिसना ना मिटी, कैसैं मिलिहैं राम॥३१॥

× × × ×

गोरे गोरे गात पर, काहे करत गुमान।
ए तो कल उड़ि जाहिगें, धूवां धवलर जान॥३३॥

× × × ×

घात वचन नहिं बोलियै, लागैं दोष अपार।
कोमलता में गुन वहू, सबकों लागें प्यार॥३८॥

× × × ×

संवत् अठार त्रेपनें, सुकल तीज गुरुवार।
जेठ मास को ग्यान इह, चेतन कियो विचार॥४३५॥

× × ×

ग्यानहीन जानौं नहीं, मन में उठी तरंग।
धरम ध्यान के कारनें, चेतन रचे सुचंग॥४३७॥

यति ज्ञानचंद्रजी उदयपुर राज्य के मांडलगढ़ में रहते थे। राजस्थान के इतिहास के ज्ञाता और संग्रहकर्त्ता थे। राजस्थान का इतिहास लिखने में कर्नल टॉड को इन्होंने वहुत सहायता दी थी। टॉड सा० इन्हें अपना गुरु मानते थे। यह अच्छे कवि थे। इनकी रची हुई फुटकर कविताएँ मिलती हैं। मिश्रवन्धुओं ने इनका पद्य रचनाकाल सं० १८४० में लिखा है। (हि० जै० सा० इ०, पृ० ७६)

बुधजन का पूरा नाम विरधीचन्दजी था। वह जयपुर के रहनेवाले खंडेलवाल जैनी थे। उनके रचे हुए चार पद्यग्रन्थ उपलब्ध हैं। (१) तत्त्वार्थबोध, (१८७१), (२) बुधजनसतसई, (१८८१), (३) पंचास्तिकाय (१८९१) और (४) बुधजन विलास (१८९२) इनकी कविता में मारवाड़ीपन है। परंतु 'बुधजनसतसई' की रचना और भाषा अच्छी है। श्री माणिक्यचंद्रजी, बी० ए० ने इसके विषय में लिखा है * कि "इस सतसई में चार प्रकरण हैं (१) देवानुरागशतक, (२) सुभाषित नीति, (३) उपदेशाधिकार और (४) विरागभावना। देवानुरागशतक में कवि बुधजनजी महात्मा सूर और तुलसी के रूप में दिखलाई दिए। यह बात बुधजनजी के दोहों में स्पष्ट है—

"मेरे अवगुन जिन गिनौ, मैं औगुन को धाम।
पतित उद्धारक आप हो, करौ पतित कौ काम॥"—बुधजन

"प्रभु मेरे अवगुन चित्त न धरो।
समदर्शी है नाम तिहारो चाहो तो पार करो॥"—सूरदास

"राम सों बड़ो है कौन, मो सौं कौन छोटो॥
राम सों खरो है कौन, मों सों कौन खोटो॥"—तुलसी

सुभाषितनीति पर कवि ने २०० दोहे लिखे हैं। इनसे कविके अपूर्व अनुभव और ज्ञान का पता लगता है। उदाहरण देखिये—

"पर उपदेश करन निपुन ते तो लखे अनेक।
करै समिक बोलै समिक जे हजार में एक॥
दुष्ट मिलत हो साधुजन, नहीं दुष्ट है जाय।
चन्दन तरु को सर्प लगि विष नहिं देत बनाय॥"

---

* अनेकान्त, वर्ष ६ पृ० ११२—११४

श्री माणिक्यचंद्रजी के मतानुसार 'इनकी तुलना वृन्द, रहीम, तुलसीदास और कबीर के दोहों से पूर्णतया की जा सकती है।' उपदेशाधिकार में भी कवि के उद्गार अन्य कवियों से मिलते-जुलते हैं। देखिये—

"दुर्जन सज्जन होत नहिं राखौ तीरथ बास।
मेलो क्यों न कपूर में हींग न होय सुवास॥"—बुधजन
"नीच निचाई नहिं तजै, जो पावैं सत्संग।
तुलसी चन्दन विटप बसि विष नहीं तजत भुजंग॥"—तुलसी
"करि संचित को रो रहै, मूरख विलसि न खाय।
माखी कर मंडित रहै, शहद भील लै जाय।"—बुधजन
"खाय न खरचै सूम धन, चोर सबै लै जाय।
पीछे ज्यों मधु मक्षिका, हाथ मलै पछताय॥"—वृन्द

विराग भावना के वर्णन में कवि ने कमाल किया है। दो दोहे देखिये—

"को है सुत को है तिया, काको धन परिवार।
आके मिले सराय में, बिछुरेंगे निरधार॥
परी रहैगी संपदा, धरी रहैगी काय।
छलबलि करि काहु न बचै, काल झपट लै जाय॥
देहधारी बचता नहीं, सोच न करिए भ्रात।
तन तौ तजि गे रामसे, रावन की कहा बात॥
आया सो नांहीं रह्या, दशरथ लछमन राम।
तू कैसैं रह जायगा, झूँठ पाप का धाम॥"

यद्यपि यह सतसई प्रकाशित हो चुकी है, परंतु प्रचार में कम आई है।

चैनविजय या चन्द्रविजय के कुछ पद हमारे संग्रह के एक गुटका (सं० १८००) में हैं। उदाहरण—

"कंथा समझाई, वनिता वन आई ॥ टेक ॥
कहत मन्दोदरि सुन पिय रावण, कुमति कहाँ तै आई।
मति के हीन बुद्धि के ओछे, त्रिया हरत पराई ॥ १ ॥

× × ×

समझायो समझैं नहिं प्राणी, अशुभ उदै जौ आई।
चैन विजय और भाई भभीषण, धर्मसूं प्रीत लगाई ॥ ३ ॥ "

जिनदास—उक्त गुटका में इनका रचा हुआ 'सुगुरुशतक' है—

"नमूं साधु निर्ग्रन्थ गुरु, परम धरम हित दैन।
सुगति करन भवि जननकूँ, आनन्द रूप सुवैन ॥

× × ×

पितामह, पिता तैं हमैं, तजी कुलिंगनीं प्रीति ॥
गोछा जाको गोत है, श्रावग कुल है जास।
अध्यातम शैली विषै, नाम है जिनदास ॥
अठारा सै बावनै चैतमास तमलीन।
सोमवार आठै तहाँ, शतमें संपूरण कीन ॥"

यह जयपुर के रहने वाले थे।

हरिचन्दजी की कतिपय रचनाएँ हमारे पास स० १९३४ के गुटका में लिखी हुई हैं। 'पंचकल्याणक प्राकृत छन्द' की भाषा हिन्दी के निकट है, यह देखिये—

"शक्क चक्क मणि मुकट वसु, चुंबित चरण जिणेस।
गब्भादिक-कल्लाण जुग, वण्णउ भत्ति-विशेष ॥ १ ॥

गब्भ-जन्म-तप णाण-पुण, महा अमिय कल्लाण।
चउविय-सक्का आग किय, मण-वक्काय महाण ॥ २ ॥

× × ×

कल्लाणक णिव्वाण यह, थिर सब पढ़ि दातार।
दीजै जण हरिचन्द कौ लीजै अपणे सार ॥१५८॥"

इसके अतिरिक्त उन्होंने सं० १८३६ में हिन्दी में 'पंच-कल्याण-महोत्सव' भी रचा था—

"कल्यानक नायक नमो, कल्प कुरुह कुल कन्द (?)।
कल्मपहर कल्याण कर, बुध-कुल-कमल दिनंद ॥

× × ×

जिनधर्म प्रभावन, भव-भव-पावन, जण हरिचंद चहंत ॥
तीन तीन वसु चंद्र ये, संवत्सर के अंक।
जेष्ठ सुकल सप्तमि सुभग, पूरत पढ़ौ निसङ्क ॥"

कवि झुनकलालजी जिला एटा के अन्तर्गत सम्भवतः अधतिया (सराय अघत) के रहने वाले थे।* उनके पिता का नाम कुसलचंद था। कारणवश कवि झुनकलाल सकूराबाद (शिकोहाबाद) पहुंच गये। वहाँ अतिसुखराय नामक एक धर्मात्मा सेठ रहते। उन्होंने कवि से 'नेमिनाथजी के कवित्त' रचने को कहा और उनकी इच्छा को शिरोधार्य करके कवि ने इन कवित्तों को सं० १८४३ में रचा। रचना अच्छी है और तत्कालीन 'ख्यालों' से सादृश्य रखती है। उदाहरण देखिए—

"नेमिनाथको हाथ पकरि कै खड़ी भई भावज सारी।
ओढ़ैं चीर तीर सरवर कैं तहाँ खड़ी हैं जदुनारी ॥

* कवि ने अपना निवास स्थान 'अघातजगा' लिखा है।

बहुत विनय धरि हाथ जोरि करि मधुर स्वर गावैं गारी ॥ प्रभु० ॥

× × ×

काहे को सार श्रृङ्गार करै, सुनि तेरो पिया गिरिनार गयो री।
मूर्छित ह्वै धरनी पै गिरी, मनु वज्र छटाका आनि पर्‌यो री ॥
सुधि बुधि विसरि गई सु भई मनु तनतें चेतन दूर भयो री।
सीतल पवन सचेत कियो, 'मो पी कहाँ' यह नाम लियो री ॥"

उपर्युक्त अतिसुखरायजी के कहने से कवि भुनकलाल ने स० १८४४ में 'भ० पार्श्वनाथजी के कवित्त' रचे थे; जिसकी एक प्रति श्री पंचायती मंदिर दिल्ली में है। उदाहरण देखिए—

"नगर बनारस जहाँ विराजै, वहै सुगंगा गहर गँभीर।
उज्जल जल करि शोभा मंडित परे निवारे किस्ती वीर ॥
कंचन रत्न जड़ित अति उन्नत स्वेत बरन पुल लसै सुधीर।
बन उपबन करि शोभा सोभित अरु विसराम सुता के तीर ॥

× × ×

रूप के रंग मानौ गंग की तरंग सम इन्द दुति अंग ऐसे जल सुहात है।
ससिकी सी किर्णि किधौं मेह तट झरनि किधौं अंबरकीभर्नि किधौं मेघ बरषात है
हीरा सम सेत रवि छबि हरि लेत किधौं मुक्ता दुति देपि मन सरसात है।
सिव तिय अपने पति को सिंगार देपि करतु कटाछु ऐसे चमर फररात है ॥

× × ×

मित्र सुअति सुपनै कही, सुनियै झुनकतुलाल।
श्री जिन पारसनाथ की, वरन करो गुणमाल ॥
मोक्ष हेतके कारने, कियो पाठ सुविचार।
जे भवि जन सरधा करै, ते सिवपुर के बार ॥१२६॥"

कहीं कहीं पर रचना बड़ी ही मनोहारी है।

केशौदासजी की 'हिंडोलना' नामक एक रचना बड़ा मंदिर मैंनपुरी के एक गुटका में देखने को मिली है, जो सं० १८१७ की ढाका शहर की लिखी हुई है—

"सहज हिंडोलना झूलत चेतनराज।
जहाँ धर्म्म कर्म्म संजोग उपजत, रस सुभाउ विभाउ।
जहाँ सुमन रूप अनूप मंदिर सुरुचि भूमि सुरंग।
तहां ग्यान दरसन थंध अविचल छरन आड़ अभंग॥

× × ×

ते नर विचच्चण सदय लच्चण करत ग्यान विलास।
कर जोरि भगत विशेष विधि सौं नमत केशौदास॥"

कवि इन्द्रजीत का रचा हुआ 'श्री मुनिसुव्रत पुराण' दिल्ली के श्रीनया मन्दिर धर्मपुरा के शास्त्रभण्डार में (नं० अ ७) सं० १९८० का लिखा हुआ विद्यमान है। इसे कवि ने मैनपुरी में सं० १८४५ में रचा था। कवि के परिचयात्मक पद्य ये हैं—

"केवल श्री जिन भक्ति को, हुव उछाह मन माँहि।
ताकरि यह भाषा करी, ज्यों जल शशि शिशु चाहि॥२३३॥
श्री जिनेन्द्र भूषण विदित, भट्टारक महि माँहि।
तिनके हित उपदेश सों, रच्यो ग्रन्थ उत्साह॥२३४॥

× × × ×

रंध्रि[९] द्विगुण शत च्यार[४] शर[५], संवत्सर गत जान।
पौष कृष्ण तिथि द्वैज सह, चन्द्रवार परिमान॥२३७॥
तादिन पूरो ग्रन्थ हुव, मैनपुरी के माँहि।
पढ़ें सुनें उर में धरें, सो सुर रमा लहाहिं॥२३८॥
बंदौं श्री जिन चरन कंज, विघन हरन सुखकार।
[illegible] के [illegible], रच्यो ग्रन्थ शुभसार॥२३९॥"

कवि निर्मल की रची हुई 'पंचाख्यान' नामक रचना श्री पंचायती मन्दिर, दिल्ली के शास्त्रभण्डार से हमें देखने को प्राप्त हुई है। यह संस्कृत ग्रन्थ का हिन्दी पद्यानुवाद है। नीति का यह सुन्दर ग्रन्थ सर्वसाधारणोपयोगी है। कवि ने न अपना कुछ परिचय दिया है और न रचनासंवत् लिखा है। मंगलाचरण में जिन भगवान् की स्तुति की है, जिससे उनका जैनी होना प्रकट है। 'पंचाख्यान' की यह प्रति सं० १८०३ की लिखी हुई है। रचना का नमूना देखिये—

"प्रथम जपूँ अरिहंत, अंग द्वादश जु भावधर।
गणधर गुरु संजुत्त, नमों प्रति गणधर तिशतर॥

× × × ×

वंध्या सुतहि जनै नहीं, वा दुप थोरो जाँणि।
शठ सुत नैनां देषीयै, यौ दुप नहीं समाण॥२६॥

× × × ×

सब निज थांनिक सुप लहै, सब सुप समरै राम।
सहसकृत भाषा कीयौ, श्रावक निर्मल नाम॥७२॥

× × × ×

पंचाख्यान कहे प्रगट, जो जाणै नर कोय।
राजनीति मैं निपुण है, पृथ्वीपति सो होय॥७५॥"

कवि धर्मपाल पानीपत के निवासी थे। वह अग्रवाल गर्गगोत्रीय श्रावक थे। उनके पूर्वज भोजराज और पृथ्वीपाल तेजपुर में रहते थे। वहाँ से आकर वह पानीपत में रहे थे। तब धर्मपाल ने संवत् १८९९ में 'श्रुतपंचमीरास' रचा था। उनके गुरु सहस्रकीर्तिजी थे—

"सहसकीरत गुरु चरण कमल नमि रास कीयो।
सुधे पण्डीत जन मति हास करीयो॥
नव सत सै नव दोइ, अधिक संवत तुम जाणउ।
माघ मास रविदिन पंचमी, तुम रिपिसुम आणउ॥"

हमारे संग्रह के एक गुटका में इनका एक 'आदिनाथस्तवन' भी है—

"वीतराग अनन्त अतिबल मदन मान विमर्दनं।
वसुकर्म्म-घन-सारंग पंडन नविवि जिन पंचाननं॥१॥
वर गर्भ जन्म तपो गुनं, दुति रूढ़ प्रभु पद्मासनं।
पदपिण्डरूप निरजोजनं, रति सुकलध्याननिरंजनं॥२॥

× × × ×

दशअष्ट दोष विवर्जितं, प्रतिहार अष्ट अलंकृतं।
जर जन्म मरन निंकंदितं, धनपालकवि क्रितवंदितं॥६॥"

पांडे लालचन्दजी अटेर के निवासी थे। संवत् १८२७ में इन्होंने 'वरांगचरित्र' भाषा की रचना की थी। इसकी रचना में कवि को आगरे के श्री नथमलजी विलाला से सहायता प्राप्त हुई थी, जो हीरापुर में आ रहे थे जहाँ पांडे लालचन्द विद्यमान थे। पांडेजी ब्रह्मसागर के शिष्य थे। परिचयछन्द पढ़िये—

"देस भदावर सहर अटेर प्रमानियै, तहाँ विश्वभूषन भट्टारक मांनियै।
तिनके सिष्य प्रसिद्ध ब्रह्मसागर सही, अग्रवाल बरवंस विषै उतपति लही॥९१॥

यात्रा करि गिरिनारि सिपरकी अति सुषदायक,
फुनि आये हिंडौन जहाँ सब श्रावक लायक।
जिनमत कौ परभाव देषि निजमन थिर कीनौं,
महावीर जिन चरन कमलौं सरनौं (लीनौं)॥९२॥

ब्रह्म उदधिकौ सिप्य फुनि पाण्डे लाल अयान।

× × × ×

तब भाषा रचना विषै कीनौं हम उपयोग।
पै सहाय विन होय नहीं तबहि मिल्यौ इक जोग ॥९५॥
नन्दन सोभाचन्द कौं नथमल अति गुनवान।
गोत विलाला गगन मैं उद्यौ चन्द समान ॥९६॥
नगर आगरौ तज रहै, हीरापुर मैं आय।
करत देषि इस ग्रन्थकौं कीनौं अधिक सहाय ॥९७॥"

इसकी रचनाप्रसङ्ग का यह कथन है। अब देखिये कवि की रचनाशैली। स्त्रियों के चित्रण में कवि लिखता है—

"रूप की निधान गुनि पानि वर नारी जहाँ,
चंचल कुरंग सम लोचन वरति हैं।
उन्नत कठोर कुच जुग पैं उमंग भरीं,
सुन्दर जवाहरकौ हार पहरति हैं॥
लाज के समाज पचीं विधनैं सवारि रचीं,
सील भार लियैं ऐसैं सोभा सरसति हैं।
तारा ग्रह नषत की माला वेस धरैं मानौं,
मेरु गिरि सिषिर की हाँसी जे करति हैं ॥२६॥"

कितना सौम्य संयमविहित चित्रण है। मुनिराज का वर्णन भी पढ़ लीजिये—

"श्री मुनिवर जिहिं देस विषै अति सोभा धारत।
तप कर छीन शरीर शुद्ध निजरूप विचारत॥
भव भव मैं अघ भार किये जे संचय जग मैं।
देषत ही ते दूरि करत भविजन के छन मैं ॥२४॥"

कवि में प्रतिभा है। वह देश और व्यक्ति का चरित्र-चित्रण सुन्दर रीति से करता है। प्रेमीजी ने कवि लालचन्द सांगानेरी का भी उल्लेख किया है। सम्भवतः वह पांडे लालचन्दजी से भिन्न है। उनके रचे हुए ग्रन्थ 'षट्कर्मोपदेशरत्नमाला' (१८१८) वरांगचरित्र, विमलनाथ पुराण, शिखरविलास, सम्यक्त्वकौमुदी, आगमशतक और अनेक पूजाग्रन्थ छन्दोबद्ध हैं। (हि० जै० सा० इ०, पृ० ८१)

विजयकीर्ति भट्टारक नागौर की गद्दी के थे। और भ० भवनभूषण के पट्टधर थे। इन्होंने सं० १८२७ में 'श्रेणिक-चरित्र' छंदोबद्ध रचा था और जब वह संवत् १८२९ में अजमेर में थे, तब उन्होंने 'महादंडक' नामक सिद्धान्त ग्रन्थ रचा था; यथा—

"विजयकीर्ति मुनि रच्यो सुग्रंथ, भव्यजीव हितकार सुपंथ ॥४४॥
× × × ×
गढ अजमेर सुथान श्रावक सुप लीला करैं।
जैनधर्म बहु मान, देव शास्त्र गुरु भक्ति मन ॥"

श्रीनया मन्दिर धर्मपुरा दिल्ली में इसकी एक प्रति (उ १९ ख) यती शिवचन्द्र कृष्णगढ़ की लिखी हुई सं० १८३८ की है।

बखतराम शाह जयपुर लश्कर के निवासी थे। इन्होंने 'मिथ्यात्वखंडन' और 'बुद्धिविलास' नामक दो ग्रन्थ रचे थे। कुछ पद भी उनके रचे हुए हैं। उनके पुत्र जीवनराम, सेवाराम, खुशालचन्द और गुमानीराम थे। जीवनराम ने प्रभुकी स्तुति के पद रचे थे। इनका उपनाम जगजीवन था।

सेवाराम शाह ने सं० १८५८ और १८६१ के मध्य में 'धर्मोपदेशसंग्रह' नामक ग्रन्थ रचा था। उनके समय में प्रतापसिंह

राजा का राज्य जयपुर में था। जयपुर में लश्करी देहरा (मंदिर) के मूलनायक भगवान् नेमिनाथ प्रसिद्ध थे।

"लघुसुत सेवाराम यह ग्रन्थ रच्यो भवि सार।
पढ़ै सुनै तिसु पुरिपकै, उपजत पुन्य अपार॥"

इसकी एक प्रति श्री नया मन्दिर धर्मपुरा दिल्ली में (नं० ऊ १९) है। शायद इन्हीं सेवारामजी का रचा हुआ 'शान्तिनाथ-पुराण' जैन सिद्धान्त भवन आरा में है। कवि ने उसे देवगढ़ में सं० १८३४ में रचा था। इस समय देवगढ़ में सावन्तसिंह राजा का राज्य था और नगर में अनेक जैनी रहते थे।

बासीलालजी ने 'वैराग्य शतक' का पद्यानुवाद सं० १८८४ में किया था। वह रचना का प्रसङ्ग यों बताते हैं—

"मूल ग्रन्थकौ मरम पोलिकै, कियौ अरथ गिरिधारी लाल।
ता अनुसार करी शुभ भाषा, लपि मण फुनि कवि बांसीलाल॥
पोस सुकल दोयज तिथि, संवत विक्रम जान।
ठारासै चौरासिया, वार गुरू शुभ मान॥१४२॥"

पद्यानुवाद प्रायः दोहा छन्द में है। नमूना देखिये—

"अरथ संपदा चिंतवै, आऊपौ नहिं जोय।
अंजली मैं जल क्षीण है, तैसे देह समोय॥ ९॥
रे जिय ज्यौं कल कौं करै, सोही आजि करेय।
ढील न करि यामै जतू, निश्चय उर धर लेय॥१०॥"

दीपचन्दजी आमेर (जयपुर) के रहने वाले काशलीवाल गोत्रीय खण्डेलवाल थे। इन्होंने गद्य और पद्य दोनों में रचना की थी। इनके रचे हुए अनेक ग्रन्थ हैं। 'ज्ञानदर्पण' और 'अनुभव

प्रकाश' छप चुके हैं। इनकी पद्यरचना सुन्दर और छन्दोभंग आदि दोषों से रहित हैं। गद्य का नमूना देखिये—

"द्रव्य गुण पर्याय का यथार्थ अनुभवना अनुभव है। अनुभव तैं पंच परम गुरु भये, हैं, होंहिगे प्रसाद अनुभव का है। ......इस शरीर मन्दिर मैं यह चेतन दीपक सासता है। मन्दिर तौ छूटै पर सासता रतन दीप ज्यौं का त्यौं रहै।"

भूधर मिश्र आगरे के समीप शाहगञ्ज के निवासी ब्राह्मण थे। उनके गुरु का नाम रंगनाथ था। 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' को पढ़ने से उन्हें जैन धर्म का श्रद्धान हुआ था। इस ग्रन्थ की भाषा टीका उन्होंने स० १८७१ में रची थी। एक अन्य ग्रन्थ 'चर्चा समाधान' भी इनका रचा हुआ है। यह कवि भी अच्छे हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का मंगलाचरण देखिये—

"नमो आदि करता पुरुष, आदिनाथ अरहन्त।
द्विविध धर्म दातार धुर, महिमा अतुल अनन्त॥
स्वर्ग-भूमि पाताल-पति, जपत निरन्तर नाम।
जा प्रभुके जस हंसकौ, जग पिंजर विश्राम॥
जाकौं सुमरत सुरत सौं, दुरत दुरन यह भाय।
तेज फुरत ज्यों तुरत ही, तिमिर दूर दुर जाय॥"

पण्डित लक्ष्मीदासजी सांगानेर के रहने वाले थे। भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी उनके गुरु थे। जिस समय विष्णुसिंहके पुत्र राजा जयसिंहजी सांगानेर में राज्य कर रहे थे उस समय पण्डित लक्ष्मीदासजी ने 'यशोधरचरित्र' की रचना की थी। इस रचना को उन्होंने सकलकीर्ति आचार्य और कवि पद्मनाभ कायस्थ कृत संस्कृत भाषा के 'यशोधरचरित्रों' से सार लेकर रचा था। कविता साधारण है—

"कुंदलिता देखि तौ मनोज प्रभूत महा,
सब जग वासी जीव जे रंक करि राखै हैं।
जाके बस भई भूप नारी रति जेम कांति,
कुबरे प्रमान संग भोग अभिलापै हैं॥
बोली सुन बैन तबैं दूसरी स्वभाव सेती,
काम बान ही तें काम ऐसे वाक्य भाषै हैं।
नैन तीर नाहिं होइ तौ कहा करै सु जोई,
मति पाय जीव नाना दुख चाखै हैं॥"

इसकी एक प्रति जैन सिद्धांत भवन आरा में है; किंतु इसमें १०७ पन्ना तक ही है। अन्तिम पन्ना नहीं है। इससे रचना का स्पष्ट संवत् अज्ञात है।

दीवान चम्पारामजी जयपुर के राज्याधिकारी अमात्य थे। उनका रचा हुआ 'जैनचैत्यस्तव ग्रन्थ' हमें जैन-सिद्धान्तभवन आरा से देखने को मिला है। यह एक छोटी-सी रचना है, परन्तु है विशेष महत्त्वपूर्ण। पहले इसके नाम से ऐसा आभास होता है कि इसमें विविध जिन चैत्यों का स्तवन और वर्णन होगा; परन्तु यह बात नहीं है। यह एक धर्मोपदेशी ग्रन्थ है और इससे उस समय की धार्मिक स्थिति का पता चलता है। सत्रहवीं शताब्दि में जिस प्रकार मुनि ब्रह्मगुलाल ने अपनी 'कृपणकथा' में मूर्ति पूजा की पुष्टि की थी, उसी तरह इस ग्रंथ में भी मूर्तिपूजा का पोषण किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि इस ग्रन्थ में तात्त्विक रूप में इष्ट विषय का निरूपण किया गया है—किसी कथा का सहारा नहीं लिया गया है। इससे स्पष्ट है कि इस समय जनता में मूर्तिपूजा पर ऊहापोहात्मक विचार-विमर्श का भाव जागृत हो गया था—जागृत हृदय पाषाण-पूजा से विचक रहे थे; परन्तु

वह भूले हुए थे और आदर्श पूजा को पाषाणपूजा समझते थे। इस भूल से जागृत वर्गको बचाने के लिये ही दीवान चम्पारामजी ने इस ग्रंथ की रचना की थी। उनको जिनप्रतिमा में कितना दृढ़ विश्वास था, यह उनके निम्नलिखित पद्य से स्पष्ट है—

"महिमा श्री जिन चैत्य की श्री जिनतें अधिकाइ।
चम्पाराम दिवान कूं सतगुर दई दिखाइ ॥ ३ ॥
सो भाषा में कहत हौं, मनमें ठानि विवेक।
ज्ञानी समझै ज्ञान तें समनय देपि अनेक ॥ ४ ॥"

श्री जिनसे जिन चैत्य का महत्त्व क्यों अधिक है? इसका समाधान दीवानजी निम्नलिखित छन्द में करते हैं—

"श्री जिन करै विहार निति, भव जल तारण हेत।
पीछें भविक जनन कूं विरह महा दुप देत ॥१६॥
श्री जिन बिम्ब प्रभाव जुत, बसें जिनालय नित्त।
विरह रहित सेवक सदा, सेवा करैं सुचित्त ॥१७॥

× × × ×

बिन बौलें पोलै हिए श्री जिनेन्द्र कौ ध्यान।
करै पुष्टता धर्मकी सोधै सम्यक् ज्ञान ॥२१॥

× × × ×

बिन अकार तें ध्यान किमि, करै भव्य मन लाइ।
सिद्धन हूँ तें अधिकता बिंब सु देत दिपाइ ॥२३॥"

इस प्रकार की युक्तियों द्वारा इस ग्रन्थ में मूर्ति पूजा की सार्थकता स्पष्ट की गई है। इसे उन्होंने आसकरन साधु के हित-भाव से संवत् १८८२ में रचा था। भवन की यह पोथी स्वयं

दीवानजी ने सं० १८८३ में वृन्दावन के श्री षरगराय से लिखाई थी।

मनरंगलालजी कन्नौज के रहनेवाले पल्लीवाल दि० जैन श्रावक थे। उनके पिता का नाम कनौजीलालजी और माता का नाम देवकी था। कन्नौज में गोपालदास जी एक धर्मात्मा सज्जन थे। उनके कहने से कवि ने 'चौबीस तीर्थङ्कर का पाठ' सं० १८५७ में रचा था। इनकी कविता अच्छी और मनोहर है। इसके अतिरिक्त 'नेमिचन्द्रिका' 'सप्तव्यसनचरित्र' और 'सप्तर्षिपूजा' नामक ग्रन्थ भी इन्हीं के रचे हुए हैं। 'शिखिरसम्मेदाचलमाहात्म्य' नामक इनकी एक अन्य रचना हमारे संग्रह में है, जिसे उन्होंने सं० १८८९ में रचा था। उदाहरण देखिये—

"प्रणम रिषभ जिनदेव, अजित संभव अभिनंदन।
सुमत पदम सुपार्स चंदप्रभु कर्मनिकंदन॥
पुष्पदंत सीतल श्रीयांस वासपुज्ज विमलवर।
जिन अनंत प्रभु धर्म सांत जिन कुंथ अरह नर॥
श्री मल्लिनाथ मुन सुव्रत, निम नेमी आनंद भर।
जिन महाराज वामा तनय, महावीर कल्यानकर॥१॥

× × ×

सिषिर महातम देष के इह सरधा हम कीन।
करो जात मन लायके, जो सुष चाहे नवीन॥

× × ×

पोत्र होत पौत्र होत और परपुत्र होत,
धन धान्य सदा मान्य होत लोक में।
कामदेव रूप होत भूपन को भूप होत,
आनंद को कूप होत देवन के थोक में॥

रिध होत सिध होत और हू सम्द्धि होत,
करणा की वृद्धि होत रहे नाहिं सोक में।
कहे मनरंग सांच जात के करैयन को,
एती बात होत सबे फलक की नोक में॥"

वृन्दावन चौबीसी पाठ के साथ ही मनरंग चौबीसी पाठ का खूब प्रचार है। दोनों ही कई बार छप चुके हैं। भावसौष्ठव जो मनरंग के पाठ में है वह शब्दालंकार की छटा में वृन्द के पाठ में छिप गया है। नमूने के दो चार छन्द पढ़िये:—

"युवा वय भई काम की चाह वाढ़ी।
वियोगी भये सोग की रीति काढी॥
न देखें तुम्हें हाँ भले चित्त से री।
प्रभू मेटिये दीनता आज मेरी॥
जरा रोग ने घेर के मोहि कीन्हो,
महाराज रोगी भलो दाव लीन्हो॥
झड्या ज्यों पको पान कालानि ले री।
प्रभू मेटिये दीनता आज मेरी॥"

अपने दुःखों को मिटा कर दीनता मेटनी की कैसी सुंदर प्रार्थना है। 'दाव लीन्हो।' और 'पको पान काल आनि ले री' का प्रयोग कैसा सुन्दर और फबता हुआ है। इस छंद में देखिये कवि किस खूबी से प्रभुभक्ति का प्रसाद उस शक्ति की प्राप्ति बतलाता है, जिससे काल को जीता जा सकता है—

"जगत काल को है चबैना बनाई।
कछू गोद लीन्हो कछू ले चबाई॥
गहे पाद मैं जानि रक्षा की टेवा।
नमो जय हमें दीजिये पाद सेवा॥"

भक्तिरस की पराकाष्ठा इस छोटे-से छंद में निहारिये—

"भलो वा बुरो जो कछू हों तिहारो।
जगन्नाथ दे साथ मो पै निहारो॥
विना साथ तेरे न एकौ बनेवा।
नमों जय हमें दीजिये पाद सेवा॥"

भ० महावीर की जयमाला-स्तुति में कवि ने भक्तिरस के साथ वीररस को भी किस सुंदरता से दर्शाया है, यह भी देखिये—

"जय सार्थक नाम सुवीर नमो, जय धर्मधुरंधर वीर नमो।
जय ध्यान महान तुरी चढ़के, शिव खेत लियो अति ही बढ़ के॥
जय देव महा कृत कृत्य नमो, जय जीव उधारन व्रत्य नमो।
जय अस्त्र विना सब लोक जई, ममता तुम तें प्रभू दूर गई॥११॥"

सचमुच कवि मनरंग की कविता प्रसादगुण युक्त है।

कवि कमलनयनजी मैनपुरी के निवासी थे। वह लेखक के सगोत्रीय यदुवंशी बुढ़ेलवाल दि० जैनी श्रावक थे। उनके पिता हरिचंद जी उस समय एक अच्छे वैद्य थे। उनकी घनिष्ठता उस समय के अग्रगण्य जैनी साहु नंदरामजी के 'रुहिया' वंश से थी। सं० १८६७ में साहु नंदराम जी के सुपुत्र साहु धनसिंह जी ने सम्मेद शिखिरादि तीर्थों का सङ्घ निकाला था। उस सङ्घ में कवि कमलनयन भी साथ थे। उन्होंने उस यात्रा का आंखों देखा सजीव वर्णन इस खूबी से लिखा है कि उससे कवि की वर्णन-शैली की विशेषता का परिचय होता है। धनसिंहजी के ज्येष्ठ भ्राता साहु श्यामलाल जी कवि कमलनयन के सहपाठी और

संस्कृतज्ञ विद्वान् थे। कवि को संस्कृत ग्रन्थों का अर्थ बता कर वह उनकी साहित्य प्रगति में सहायता करते रहते थे। कवि कमलनयनजी अध्यात्मरस के रसिक थे, यह बात उनके निम्न पद्य से स्पष्ट है—

"जिन आतमघट फूलो बसन्त। मुनि करत केलि सुख को न अन्त ॥टेक॥
शुद्ध भूमि दरशन सुभाय, जहां ज्ञान-अंग-तरु रहे छाय ॥जिन०॥

× × ×

जहाँ रीति-प्रीति संग सुमति नारि।
शिवरमणि मिलन को कियो विचार ॥ जिन० ॥
जिन चरण कमल चित. बसो मोर।
कहें 'कमलनयन' रति-साँझ भोर ॥ जिन० ॥"

सं० १८६३ में कमलनयनजी ने 'अढ़ाई द्वीप का पाठ' रचकर साहित्य रचना का श्रीगणेश किया प्रतीत होता है। सं० १८७१ में कवि ने मैनपुरी में 'जिनदत्तचरित्र' का पद्यानुवाद रचा था। सं० १८७३ में कवि कारणवश प्रयाग पहुँच गये थे। वहाँ अपने मित्र श्री लालजीत की इच्छानुसार उन्होंने 'सहस्रनामपाठ' की रचना की थी। सं० १८७४ में उन्होंने 'पंचकल्याणक पाठ' रचा था और सं० १८७७ में उन्होंने 'वराङ्ग चरित्र' रचा था, जो 'श्री शिवचरनलाल जैन ग्रन्थमाला' में छप चुका है। कवि की रचनाएँ सरल, सर्वबोध और लोकोपकारी हैं। इसीलिये हम उन्हें सफल कवि कह सकते हैं। कुछ उदाहरण देखिये—

"पावस में गाजें घन दामिनी दमंके जहाँ
सुर चाप समान [illegible] देखियतु है।

नाग सिंह आदि वन जंतु भय करें जहाँ
कंपित सुपादप पवन पेखियतु है॥
निरंतर वृष्टि करैं जलद अगम नीर।
तलु तलें खड़े मुनि तन सोपियतु हैं॥"

मुनि ध्यान के मिषसे वर्षाऋतु का कितना सजीव चित्रण कवि ने किया है। ग्रीषम ऋतु का वर्णन भी पढ़िये—

"ग्रीपम की रितु संतापित जहाँ शिलापीठ
पवन प्रचारु चारि दिशा में न जा समैं।
सूखि गयो सरवर नीर और नदी जल
मृगन कै यूथ वन दौड़ें फिरें प्यास में॥
जलाभास देषियतु दूरितें सुथल जहाँ
जाम युग घाम तेज करेऊं अवास में।
गुफा तल सलिल सहाय छांडि धीर मुनि।
गिरि के शिपिर योग माड़ि बैठे ता समैं॥"

कविता साधारणतः अच्छी है।

सदानन्दजी भूमिग्राम (भौंगांव, जिला मैनपुरी) के निवासी थे। उनके पिता का नाम भवानीदास था। उन्होंने तोतारामजी के लिये स० १८८७ में 'कम्पिलाजी की रथयात्रा' का वर्णन पद्य में लिखा है। कविता साधारण है।

विजयनाथ माथुर टोडे नगर के निवासी थे। उन्होंने जयपुर के दीवान श्रीजयचंदजी के सुपुत्र श्री कृपाराम और श्रीज्ञानजी के इच्छानुसार सं० १८६१ में भ० सकलकीर्ति कृत 'वर्द्धमान-पुराण' का हिन्दी पद्यानुवाद किया था। कविता साधारण है। अपने परिचय में कवि ने लिखा है—

"......कविजन जहाँ अनेक।
तिनमें साधर्मी जु ऋषि, विजैनाथ कवि येक ॥ २९ ॥
वासी टोडे नगर कौ, माथुर जाति प्रवीन।
पुन्य उदै तासौ तहाँ, यहै हुकम जौ कीन ॥ ३० ॥
भाषा रच्यौ बनाय, वर्द्धमान पुरान की ॥"

रंगविजय* जी तपागच्छ के विजयानंदसूरि समुदाय के यति थे। उनके गुरु अमृतविजय कवि थे। उन्होंने बहुत से आध्यात्मिक और विनती के पद रचे हैं। रचना सरल और सरस है। 'वैष्णव कवियों ने जैसे राधा और कृष्ण को लक्ष्य करके भक्ति और शृंगार की रचना की है वैसे ही इन्होंने भी राजीमती और नेमिनाथ के विषय में बहुत से शृंगार भाव के पद लिखे हैं।' नमूना एक पद में देखिये—

"आवन दे री या होरी।
चंदमुखी राजुल सौं जंपत, ल्याउं मनाय पकर वरजोरी।
फागुन के दिन दूर नहीं अब, कहा सोचत तू जिय मैं भोरी ॥
बाँह पकर राहा जो कहावूँ, छाँडूँ ना मुख माँडूँ रोरी।
सज सनगार सकल जदु वनिता, अबीर गुलाल लेइ भरझोरी ॥
नेमीसर संग खेलौं खिलौना, चंग मृदंग डफ ताल टकोरी।
हैं प्रभु समुदविजै के छौना, तू है उग्रसेन की छोरी।
'रंग' बहै अमृत पद दायक, चिरजीवहु या जुग जुग जोरी ॥"

सं० १८४९ में इन्होंने खड़ी बोली के ढंग की भाषा में एक गजल बनाई जिसमें अहमदाबाद नगर का वर्णन है।

कर्पूरविजय या चिदानन्द* जी संवेगी साधु थे, पर रहते थे सदा अपने ही मत में मस्त। वे पूरे योगी थे। उन्होंने अपना

* हि० जै० सा० इ० पृ० ७८-७९।

साम्प्रदायिक नाम छोड़ कर अभेदमार्गीय 'चिदानन्द' नाम रक्खा था। उन्होंने मार्मिक और अनुभवपूर्ण आध्यात्मिक पद बहुत से रचे हैं। 'स्वरोदय' नामक एक निबन्ध सारविज्ञान पर लिखा था। एक पद का नमूना देखिये—

"जौं लौं तत्त्व न सूझ पड़ै रे।
तौं लौं मूढ़ भरमवश भूल्यौ, मत ममता गहि जगसौं लड़ै रे॥
अकर रोग शुभ कंप अशुभ लख, भवसागर इण भाँति मड़ैं रे।
धान काज जिय मूरख खितहड़, उखर भूमि को खेत खड़ै रे॥
उचित रीत ओलखा बिन चेतन, निश दिन खोटो घाट घड़ै रे।
मस्तक मुकुट उचित मणि अनुपम, पग भूपण अज्ञान जड़ै रे॥
कुमता वश मन वक्र तुरग जिम, गहि विकल्प मगमाँ हिं अड़ैरे।
चिदानन्द, निज रूप मगन भया, तब कुतर्क तोहि नाहिं नड़ैरे॥"

टेकचन्द* के रचे हुये ग्रंथ 'श्रुतसागरी तत्त्वार्थसूत्रटीका की वचनिका' (१८३७ सं०), 'सुदृष्टितरंगिनी वचनिका' (१८३८), 'षट् पाहुड वचनिका', 'कथाकोष छन्दोबद्ध' 'बुध प्रकाश छहडाला' और अनेक पूजापाठ हैं। सुदृष्टि तरंगिनी की टीका साढ़े सत्रह हज़ार श्लोकों की है।

नथमल विलाला* भरतपुर निवासी और राज्य के खजांची थे। उन्होंने 'सिद्धान्तसार दीपक' (१८२४), 'जिनगुणविलास', 'नागकुमार चरित्र' (१८३४), 'जीवंधर चरित्र (१८३५) और 'जम्बूस्वामी चरित्र' ग्रन्थ पद्य में रचे थे। कविता साधारण है।

डालूराम* माधवराज पुर निवासी अग्रवाल जैनी थे। उनके

---

* हिं० जै० सा० इ० पृ० ८५-८६।

रचे हुवे ग्रंथ 'गुरूपदेश श्रावकाचार' छन्दोबद्ध (१८६७), सम्यक्त्व प्रकाश (१८७१) और अनेक पूजायें हैं।

देवीदास* दुगोदह केलगवाँ जिला झाँसी के रहने वाले थे। उन्होंने 'परमानन्द विलास' (१८१२) 'प्रवचन सार छ०', 'चिद्विलास वचनिका' और 'चौबीसी पाठ' रचे थे।

सेवाराम राजपूत के* रचे हुये 'हनुमच्चरित्र' छन्दोबद्ध (१८३१) 'शान्तिनाथ पुराण' और 'भविष्यदत्त चरित्र' हैं। यह देवलिया प्रतापगढ़ निवासी थे।

भारामल्लजी* फर्रुखाबाद के रहने वाले सिंघई परशुराम के पुत्र थे। वह खरुउवा जैनी थे। उन्होंने भिंड में रहकर सं० १८१३ में 'चारुदत्त चरित्र' रचा था। सप्त व्यसन चरित्र, दान कथा, शील कथा, दर्शन कथा, रात्रिभोजन कथा ग्रन्थ भी उनके रचे हुये हैं। कविता साधारण है; परंतु चरित्र ग्रंथ होने के कारण उनमें से अधिकांश छप चुके हैं और उनका प्रचार भी अधिक है।

गुलाबराय* ने 'शिखिर विलास' स० १८४२ में रचा था।

थानसिंह* का रचा हुआ 'सुबुद्धि प्रकाश छन्दो०' (स० १८४७) ग्रन्थ है।

नन्दलाल छावड़ा* ने 'मूलाचार की वचनिका' स० १८८८ में रची थी।

मन्नालाल सांगा की*—चारित्र सार वचनिका (१८७१) है।

यति कुशलचंद गणि*का आध्यात्मिक ग्रन्थ 'जिनवाणीसार' है।

यति मोतीचंदजी* जोधपुर नरेश श्री मानसिंहजी की सभा के रत्नों में से एक थे। राजा ने उन्हें 'जगद्गुरु भट्टारक' का पद प्रदान किया था। हिंन्दी के श्रेष्ठ कवि थे।

---

* हि० जै० सा० इ० पृ० ८०-८१।

हरजसराय † जी स्थानकवासी सम्प्रदाय के अच्छे कवि थे। 'साधु गुणमाला', 'देवाधि-देवरचना' और 'देवरचना' नामक ग्रन्थ उनके बनाये हुए हैं।

क्षमाकल्याण पाठक † ने सं० १८५० में 'जीव-विचारवृत्ति' की रचना की थी। 'साधु प्रतिक्रमणविधि', 'श्रावक प्रतिक्रमणविधि,' आदि इनकी रचनायें हैं।

बखतराम चाटसूँवासी ने जयपुर में 'धर्मबुद्धि की कथा' (१८००) और 'मिथ्यात्व खण्डन वचनिका' (१८२१) नामक ग्रन्थ रचे थे। ‡

पं० लालचन्द सांगानेरी ‡ ने व्याना में षट्कर्म्मोपदेश रत्नमाला, वरांग चरित्र, विमल पुराण आदि ग्रन्थ सं० १८१८ से १८४२ तक रचे हैं।

पं० नवलराम खण्डेलवाल बसवा निवासी ने 'वर्द्धमान पुराण' छन्दबद्ध (१८२९) रचा था। ‡

पं० देवीदास खंडेलवाल बसवा निवासी ने भेलसा में 'सिद्धान्तसार संग्रह वचनिका' (सं० १८४४) रची थी। ‡

पं० सम्पतराय ने ‡ 'ज्ञानसूर्य्योदय नाटक' छंदबद्ध (१८५४) रचा था।

पं० विलासराय इटावा निवासी कृत 'नयचक्र वचनिका' (१८३७) और 'पद्मनंदि पचीसी वचनिका' नामक ग्रन्थ हैं। ‡

पं० मन्नालाल खंडेलवाल जयपुर निवासी ने दिल्ली में 'चरित्रसार' (१८७१) ग्रन्थ रचा था। ‡

---

† हि० जै० सा० इ० पृ० ८१।

‡ सा० दि० जै० ग्रं ना० पृ० ६-१७।

पं० नेमिचन्द खंडेलवाल ‡ जयपुर निवासी ने कई पूजायें रची हैं।

पं० मनराखनलाल ‡ जामसा निवासी कृत 'शुद्धात्मसार छन्दबद्ध' (१८८४) है।

पं० हरकृष्णलाल ‡ हसागढ़ वासी ने सं० १८८७ में 'पंच-कल्याणक पूजा' रची थी।

पं० नंदलाल छावड़ा और ऋषभदास तिगोता ‡ ने मिलकर सं० १८८८ में 'मूलाचार वचनिका' लिखी थी। ‡

पं० अमरचन्द लोहाड़ा ‡ ने सं० १८९१ में वीसविहरमान पूजा आदि रचीं थीं।

पं० बखतावरमल्ल दिल्ली के निवासी ने 'जिनदत्त चरित्र भाषा' (१८९४) नेमिनाथ पुराण भाषा (१९०९) आदि ग्रन्थ रचे थे। ‡

पं० सर्वसुखराय जयपुर ने 'समोसरण पूजा' (१८९६) रची थी। ‡

कवि बूलचंद ❀ कृत 'प्रद्युम्न चरित' सं० १८४३ का दिल्ली के सेठ का कूंचा वाले मन्दिर में है।

मनसुख सागर × ने सं० १८४६ में सोनागिरि पूजा, व रक्षाबन्धन पूजा रची थी।

त्रिलोकेन्द्र कीर्ति × ने सं० १८३२ में सामायिक पाठ टीका बनाई थी।

कवि लालजी × ने सं० १८३४ में समवसरण पाठ रचा था।

---

‡ भा० हि० जै० ग्रं० ना० पृ० ६-१७।

❀ अनेकान्त वर्ष ४ पृ० ४७४।

× अनेकान्त, वर्ष ४ पृ० ५६५-५६६।

पं० शिवचंद्र × ने 'मतखंडन विवाद' (१८४१) गद्य में लिखा था।

पं० जोगीदासजी की रची हुई 'अष्टमी कथा' श्री दि० जैन पंचायती मन्दिर दिल्ली के भण्डार में है, जिसमें उन्होंने अपना परिचय निम्नप्रकार दिया है—

"सब साहन प्रति गढमल साह, ता तन सागर कियो भव लाह॥
पोहकरदास पुत्र ता तरनो, नन्दो जब लग ससि सूर गनौ।
गुरु उपदेस करी यह कथा, जीवो चिर जो इदह (?) सदा॥
अग्रवाल रहै गढ़ सलेम, जिनवाणी यह है नित तेम।
सुणि कह्या सुण पुव्वह आस, कथा कही पण्डित जोगीदास॥"

पं० प्रागदास ने एक 'जम्बूस्वामी की पूजा' भाषा छन्दोवद्ध रची है, जिसकी एक प्रति उक्त मन्दिर-भण्डार में है। कवि ने केवल अपना नाम निम्नलिखित पद्य में ध्वनित किया है—

"मथुरा तें पश्चिम कोस आध, छत्री पद द्वय महिमा अगाध ॥१४॥
वृजमण्डल में जे भव्य जीव, कातिग वदि रथ काढ़त सदीव।
केऊ पूजित केऊ नृत्य ठॉनि, केऊ गावत विधि सहित तान ॥१५॥
निस घोस होत उत्सव महान्, पूरत भव्यन के पुन्य थान।
पद कमल प्राग तुव दास होय, निज भक्तिविभव दे अरज मोहि॥१७॥"

कवि नयनसुखदासजी जैन-समाज के एक प्रसिद्ध कवि थे। उनके रचे हुए पद्य बड़े सुन्दर और प्रतिभापूर्ण होते हैं। उदाहरण देखिये—

"ए जिनमूरति प्यारी, राग दोष विन, पानि लपि सांत रसकी ॥टेक॥
त्रिभुवन भूति पाय सुरपति हू, रापत चाह दरस की ॥ए जिन०॥

× अनेकान्त वर्ष पृ० ५६५-६६।

कौन कथा जगवासी जन की मुनिवर निरषि हरषि चपि मुसकी ॥
अन्तरभाव विचार धारि उर, उमगत सरित सुरस की ॥ए जिन०॥
महिमा अदभुत आन गुनन की, दरसन तैं सम्यक निज वसकी ॥
नयन विलोकत रहौ निरन्तर, बानि विगारि असलकी ॥ए जिन०॥"

देखिये इस पद में कैसी आध्यात्मिक भक्तिसरिता प्रवाहित है—

"तेरोही नामध्यान जपिकरि जिनवर मुनिजन पावत सुखघन अचलधाम ।
व्रत-तप-शम-बोध सकल फल होत, सत्य भक्ति मन धारत सुगुनग्राम ॥तेरो०॥
सरवज्ञ वीतराग परगट वड़भाग, शिवमगकर वाग क्षरै माझ जुगजास !
लषि सुनि भविजन नयन धरत मन हरत भरम सारत परम काम ॥तेरो०॥"

इस पद में कविजी प्राणियों को सचेत-सावधान करने के लिये कहते हैं—

"कौन भेष बनायौ है, अरे जिय !
मोही ज्ञान गमाइ, निज गुन रूप विगारि ॥ टेक ॥
आस वढ़ाय, विसास कीये परवास,
लिये धन आन दिया रे, दुषिया त्रास विथारि ॥कौन०॥
पास लगाय निवास किये गति च्यार,
लिये तन प्रान नयारे, मरिया तास चितार ॥कौन०॥
'नयन' संभारि विचारि हिये जिनराज दिये,
गुन आनन्द लारे, सुषिया प्यास निवारि ॥कौन०॥

कवि जिनोदय सूरि खरतरगच्छीय श्री जिनतिलक सूरिके शिष्य थे। उन्होंने 'चतुरखण्डचौपई' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसकी एक प्रति सं० १८९५ की लिपि की हुई श्री दि०

जैन पंचायती मन्दिर दिल्ली में है। इसमें हंसराज वच्छराज की कथा का वर्णन है। भाषा में गुजराती-पन है। उदाहरण देखिये—

"आदीस्वर आदैं करी, चौबीसां जिण चन्द।
सरसति मनि समरौं सदा, श्री जयतिलक सुरिंद ॥ १ ॥
पुन्यें उत्तम कुल हुवै, पुन्यें रूप प्रधान।
पुन्यें पूरो आउपो, पुन्यें बुद्ध निधान ॥ २ ॥
पुन्यें सब सुष सँपजै, पुन्यें सम्पति होइ।
राज रिद्धि लीला घणी, पुन्यें पामै सोइ ॥ ४ ॥
पुन्य अपर सुणज्यो कथा, सुणतां अचिर्य थाइ।
हंसराज वछराज नृप, हूया पुन्य पसाइ ॥ ५ ॥

× × × ×

तसु पाटैं महिमा निलो रे, श्री जिनतिलक सूरि पसाय।
मोटा मोटा भूपती रे, प्रणमें तेहना पाय ॥ ६ ॥
एह प्रबन्ध सुहामणौ रे, कहै श्री जिनोदय सूर।
भणौं गुणें श्रवणें सुणैं रे, तस घर आनन्द पूर ॥ ७ ॥

ब्र० ज्ञानसागरजी काष्ठासङ्घ के आचार्य श्री भूषण के शिष्य थे। उनका रचा हुआ 'कथासंग्रह' नामक ग्रन्थ श्री दि० जैन पंचायती मन्दिर दिल्ली में है। इस ग्रन्थ में रक्षाबन्धन, लब्ध-विधानव्रत, अष्टान्हिका व्रत आदि की कुल बीस कथायें उनकी रची हुई हैं। रचना साधारण है। कहीं कहीं पर कविता अच्छी है। उदाहरण देखिये—

"विद्याभूषण गुरु गच्छपती, श्रीभूषण सूरीवर सुभमती।
ता प्रसाद पायो गुणसार, ब्रह्म ज्ञान बोलै मनुहार ॥

× × × ×

पिण भंगुर संसार असार, विनसत घटी न लागै वार ।
रामा सुत जोवन भोग, देपत देपत होत वियोग ॥२७॥
जिम एवट तिम सगला लोक, मरण समै जब थावै फोक ।
राजा मनचिंतै वैराग, वृद्ध पणौ संयम नो लाग ॥२८॥

× × × ×

सब निजघरें सुपभर रहैं, धर्मभार सब निज सिर सहै ।
नेमनाथ जिन परम दयाल, केवल ग्यान लघु गुनमाल ॥८॥
तसु पद बन्दन करवा काज, गिरनारें चाल्यौ हरि राज ।
रुक्मणनें देपाडै भूप, ऊर्जयंत गिर तणौ सरूप ॥९॥
समवसरण संजुक्त जिनन्द, हरपे देपत कृष्ण नरेन्द्र ।
केवल लोचन मंगल पूर, अष्टादश दोपैं ते दूर ॥१०॥"

पण्डित छजमलजी का रचा हुआ 'मुक्तावली रास' मिला है । रचना साधारण है—

"पण्डित छजमल रासि कियो मुक्तावलि केरो ।
भाव सहित नव वरस करै तसु मुकति वसेरो ॥१९॥
पढ़ै पढ़ावै भाव सहित्त तिस घर जयकारो ।
मन वंछित फल पाय जगत जस होय्र अपारो ॥२०॥"

कुँवर धर्मार्थी ने 'वन्धत्रिभंगी वचनिका' स० १८०६ में लिखी थी ।

कवि नवलशाह खटोलाग्राम के निवासी थे । उनके पिता देवराय गोलापूर्व जैनी थे । उनके पूर्वज भेलसी नामक ग्राम में रहते थे । जिनमें संघई भीषमशाह ने जिन मंदिर बनवा कर गजरथ चलवाया था । सं० १८२५ में कवि जी ने भ० सकलकीर्ति के संस्कृत ग्रन्थ से कथा लेकर के 'वर्द्धमानपुराण, छन्दोबद्ध की रचना की थी । पं० पन्नालालजी ने लिखा है कि 'यह कवि'

बुन्देलखंड के कवियों में अत्यन्त श्रेष्ठ कवि थे। 'वर्धमान पुराण' में महाकाव्य के समस्त लक्षण पाये जाते हैं, इसलिये यह हिन्दी का एक स्वतन्त्र महाकाव्य कहा जा सकता है।' गतवर्ष यह प्रकाशित होकर 'जैन मित्र' के उपहार में बांटा गया है। कविता के उदाहरण देखिये—

"जुरी दोउ सैना करैं युद्ध ऐना, लरैं सुभटसो सुभट रसमें प्रचारैं।
लरैं व्याल सों व्याल रथवान रथ सौं, तहाँ कुंतसौं कुंत किरपान झारैं॥
जुरै जोर जोधा मुरै नैक नाहीं, टरैं आपने राय की पैज सारैं।
करैं मार घमसान हलकंप होतौ, फिरै दोयमें एक नहीं कोई हारै॥११२॥

× × ×

ज्यौं वरषा ऋतु पाय नीर सरिता बढ़ै।
त्यौं रण सिंधु समान, रकत लहरैं चढ़ै॥
कायर वहि व्रहि जांय सूर पहिरत फिरैं।
टूट टूट रथ कवच आय धरनी गिरैं॥ १२५॥

× × ×

वीर जिन जन चरन पूजत, वीर जिन आश्रय रहै।
वीर नेह विचार शिव सुख, वीर धीरज को गहै॥
वीर इन्द्रिय अघ घनेरे, वीर विजयी हों सही।
वीर प्रभु मुझ वसहु चित नित, वीर कर्म नशावही॥२२६॥"

श्रीबख्शीरामजी कृत 'ढूँढियामतखंडन' (सं० १८२६) की एक प्रति श्रीअमरग्रन्थालय इन्दौर में है। उसका अवलोकन करके श्री पं० नाथूलालजी ने आदि अन्तके छंद इस प्रकार लिख भेजने की कृपा की है—

"श्री सरवग्य सुदेव कौ, मन वच सीस नवाइ।
कहूँ कछु संक्षेप सौं परमत खोज बनाइ॥ १॥
× × ×
संवत अठारा सै धरै, मिल्या सुजोग समास है।
परख परमत कछु सजन्म न धरो सिर सुखरास है॥"

इस परिवर्तन-काल में गद्य साहित्य का विकास खूब हुआ। अधिक अधिक संख्या में गद्य रचनाएँ रचीं गईं। भाषा की अपेक्षा वे उत्तरोत्तर परिष्कृत और सुन्दर-मुहावरेदार होती गईं। वैसे मध्यमकाल से ही उच्च कोटि का गद्य सिरजा जाने लगा था; परंतु गद्य की जो उन्नति इस काल में हुई, वह अपूर्व थी। सत्रहवीं शताब्दि से अब तक के कुछ उदाहरण देखिये—

(१) "सम्यग्दृष्टी कहा सो सुनो—संशय विमोह विभ्रम ए तीन भाव जामैं ना हौं सो सम्यग्दृष्टी। संशय विमोह विभ्रम कहा ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखायतु है सो सुनो।"

—कविवर बनारसीदासजी।

(२) "मूलकर्म आठ तेहनीं उत्तर प्रकृति एक सो अट्ठावन जाणिवीं हवे आठ कर्म नाम कहीइ छह। पहिलु ज्ञानावरणी कर्म॥ १॥ बीजउ दरसनावरणी कर्म २॥"

—मुनि वैराग्य सागर कृत आठकर्मनी १०८ प्रकृति (१७१९)।

(३) "सूर्य के प्रकाश विना अंध पुरुष संकीर्ण मार्ग विषैं पाडै में परै। अर सूर्य्य के उदय करि प्रगट भया मार्ग विस्तीर्ण ता विषैं दिव्य नेत्र-निका धारक काहे को पाडे में परै॥"

—जगदीश कृत हितोपदेश भाषा वचनिका।

(४) "परमात्म राजा कूं प्यारी सुपदैनी परम राणी तींद्रिय विलास करणीं। अपनी जानि आप राजा हूँ यासों दुराव न करैअ"

—परमात्मा पुराण, दीपचंदकृत।

(५) "सर्व जगत की सामग्री चैतन्य सुभाव विना जड़त्व सुभाव में धरे फीकी जैसे लून विना अलौनी रोटी फीकी। तीसो ऐसो ग्यानी पुरुष कौन है सो ज्ञानामृत नै छोड़ उपाधीक आकुलता सहित दुपने आचरै ? कदाचित न आचरै।"

—ज्ञानानंद पूरित श्रावकाचार (१८५८)।

(६) "जैसे जोग का उपादान जोग है वा धतुरा का उपादान धतुरा है आम्र का उपादान आम्र है अर्थात् धतुरा के आम नहीं लागै अर आम्रके धतुरा नाहीं लागै तैसैहीं आत्मा के आत्मा की प्राप्ती संभव है। प्रश्न—प्राप्त की प्राप्ती कोण द्रष्टांत करि संभवै सो कहो। उत्तर—जैसे कंठ मैं मोती की माल प्राप्त है अर भरमसै भूलिकरि कहै के मेरी मोती की माल गुम गई—मेरी मोकूं प्राप्ती कैसे होवै।"

—श्रीधर्मदासकृत इष्टोपदेश टीका।

(७) "प्रथमानुयोग विषै जे मूल कथा हैं ते तौ जैसी हैं तैसी ही निरूपित हैं। अर तिन विषै प्रसंग पाय व्याख्यान हो है। सो कोइ तौ जैसाका तैसा हो है। कोई ग्रन्थ कर्ता का विचारकै अनुसार होय परन्तु प्रयोजन अन्यथा न हो है।"

—श्रीटोडरमलजीकृत 'मोक्षमार्गप्रकाशक' (पृ० ४०२)।

(८) "जीव कर्म रहित होय तब तौ ऊर्द्धगमन स्वभाव है, सो ऊर्द्ध ही जाय। अर कर्मसहित संसारी है, सो विदिशा कूँ वर्जिकरि चारि दिशा अर अधः ऊर्द्ध जहाँ उपजना होव तहाँ जाय है।"

—श्रीजयचन्द्रजी (सं० १८५०)

गद्य साहित्य के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि इस परिवर्तन काल में गद्य भाषा साहित्य में भी विशेष उन्नति हुई थी। उपर्युक्त गद्य सुसंस्कृत और मुहावरेदार बनाने की प्रगति हुई थी। उद्धरणों में निम्नलिखित रेखाङ्कित वाक्यों का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि भाषा का झुकाव खड़ी बोली की ओर होता जा रहा था—

(१) सम्यग्दृष्टी कहा (क्या ?) सो सुनो।
(२) सूर्य के प्रकाश विना अंध पुरुष संकीर्ण मार्ग विषै षाड़ै में परै।
(३) राजा हू यासौं दुराव न करै।
(४) सर्व जगत की सामग्री चैतन्य सुभाव विना जड़त्व सुभाव ने धरे फीको जैसे लून विना जलौनी रोटी फीकी।
(५) जैसे जोग का उपादान जोग है·········आम्र है।
(६) जैसी हैं तैसी ही निरूपित हैं।
(७) कर्मसहित संसारीं है।

इस प्रकार परिवर्तनकाल की साहित्य प्रगति का सिंहावलोकन हमें नवीन युग के द्वार पर पहुँचा देता है। हम देख चुके हैं कि इस काल में किस प्रकार न केवल कविता में ही बल्कि गद्य शैली में भी समुचित सुधार हुआ—नवीन युग की प्रगति के लिये इस काल के साहित्यकारों ने उपयुक्त क्षेत्र तैयार कर दिया। अतः इस प्रकरण के साथ हमारे इतिहास के पूर्व युग का वर्णन समाप्त होता है। इसके उत्तर खंड में नवयुग के साहित्य का इतिहास लिखा जायगा, जिससे उदीयमान प्रगति का बोध पाठकों को होगा।

इति शम्।

परिशिष्ट

कवि राजमल्ल पाण्डे कृत पिङ्गल के उद्धरण

"कर कमला विमला मुखवाणी, जयलछी अछी अनिबाणी।
भारहमल्ल सया सनमानी, कीरति सात समुद्दहजाणी॥
पाइक छंदं णाए संभणं, भगण कणो कणो सगणं।
कामिणि मोहं णामंतरयं, भूपति कित्ती मित्ती परयं॥ ६६॥
भूप समानं मानं महियं, कित्तिनिदानं दानं अहियं।
पूरण लछी अछी निलयं, भारहमल्लं उव्वीतिलयं॥ ६७॥
इय सिंहयल्लोयण छंदु भणं, कल सोलह दियवर गण सगणं।
दिव देव तनय जसु वित्थरिए, दुखु दारिद वारिधि उत्तरिए॥ ६८॥
जगतीतल दत्तवलयरचरणं, जगती जनमनवइर घण करणं।
जग तीरथ भारह मल चरियं, जग सुरजतीरुह अवतरियं॥ ६९॥
छंद अडिल्लह मत्त भणिज्जइ, चउकल चारि जगण चविज्जइ।
चउपय चारि जम कुस लहिज्जइ, भूपति भारहमल्ल पढिज्जइ॥ ७०॥
कीरति मुत्ताहल रयणायरू, पिशुन महीधर बृंद भिदायरू।
सरणागयज्जनघन सरणायरु, भूपति भारहमल्ल दिवायरु॥ ७१॥
छंद मडिल्ल अडिल्ल विसेसइ, सव्व पयंत भकार विशेसइ।
दुदल दुप्पय दोइज मुक्कइ, भूपति दान महीप चमक्कइ॥ ७२॥
तो मुख चंद मयूष सुधारा, चक्र चकोर कविंद अधारा।
देव सरोवर वर अरविंदं, भूपति भारहमल्ल नरिंदं॥ ७३॥
बंधु भणिज्जइ छंदुर वणा, तिणि भकार पयंतह कणा।
भूपति भारहमल्ल पढिज्जइ, दिग्ध दरिद्र जलंजलि दिज्जइ॥ ७४॥
देव महीधर उदय चंदा, रोरु तमो रिपुकंद णिकंदा।
लछि बधू कुर कंडुक जेहा, भारहमल्ल जगज्जस रेहा॥ ७५॥

मोदक चारि भक़ार ठविज्जसु, भूपति भारहमल्ल पडिज्जसु।
कीरति कीरति चित धरिज्जसु, कुंजह पुंज तुरंग सज्जिजसु ॥ ७६ ॥
देवमहीधर सूर सिरोमणि, द्योल्कठोह दरिद्र तमो हणि।
बंद विहंगम नैन मुदाकर, भूपति भारहमल्ल दिवाकर ॥ ७७ ॥
दोधक बंधु विशेसुण गगा, तिणि भका पयंतह कणा।
भारहमल्ल पढंतर वणा, आन नवण असंसण णणा ॥ ७८ ॥
तुरंग सुधामय धाम अचंभा, भामिनि वाम विचक्षण रंभा।
सिंधुर सुंदर दान सनेहा, भारहमल्ल पुरंदर जेहा ॥ ७९ ॥
छंदु विलासिणि भूप र वणा, सोलह मत्त पयंतह कणा।
चउकल चारि णराउ गणिज्जइ, भूपति भारहमल्ल भणिज्जइ ॥ ८० ॥
दरबार मतंगज गजंता, निशिवासर दुंदुहि बज्जंता।
जय जोह तुरंगम सज्जंता,[1]................................ ॥ ८१॥
....भारहमल्ल सुधाम।
धरावधि कीरति मंगल गाण, पुरंदर सुंदर भोग समाण ॥ ८२ ॥
घण घण घोर मनौ सुष नद्द, णिरंतर कंचण वारि विहद्द।
किए जण चातक वृंद णिहाल, धराधिप भारहमल्ल कृपाल ॥ ८३ ॥
पिकवाणि इय छंदु भणिज्जइ, सेंस धंनुहरं कज्ज व विज्जइ।
सव्व पयंत ह देह धरिज्जइ, भूपति भारहमल्लु पढिज्जइ ॥ ८४ ॥
स्वाति बुंद सुरवर्ष निरंतर, संपुट सीपि धमो उदरंतर।
जम्मो मुकताहल भारहमल, कंठाभरण सिरी अवलीवल ॥ ८५ ॥
इय त्रोटक चारि गणा सगणा, भण भारहमल्ल प्रताप घणा।
रिपु कानण दाह दवग्गि जहां, जग जाणि जगम्मग ज्योति महा ॥८६॥
जगती जन पादप पाद तटी, कविवृंद विहंगम आरभटी।
वरटा व्रज मंजु मुदा प्रमदा, कुमुदाकर भारहमल्लु सदा ॥ ८७ ॥
इय पद्धड़ि छंदु भणंत णाउ, चउकल गण चारि पयंत राउ।
जइ वीअ जगणु णवि कोवि दोसु, भणि भारहमल्ल कीरति अदोसु ॥ ८८ ॥

[1] नं० ८१ के तीसरे चरण के आगे के दो चरण लिपिकर्ता से मूल प्रति में छूट गए हैं।

मुहियहु अचंभव भारमल्ल, तुच जसु णिम्मलु सीतल णिसल्ल।
तोपि सुन वदन घणस्याम दिट्ठ, हियदहण दाह सलित अणिट्ठ ॥ ८९ ॥

विज्जूमाला चारीकण्णा, कालिंटी छंदा णामन्ना।
भूपती कित्ती सोहंती, पाठिज्जंती भूमोहंती ॥ ९० ॥
मत्ता गत्ता तवेरम्मा, कोहा जोहा सज्जीवम्मा।
हिंसंता वाजी णाचंता, भारू गेहा एहा कंठा ॥ ९१ ॥
छंदु चंदाणणो चारि रकारयं, तिंणि वीसाम भूपत्ति भूधारयं।
तुज्झ वाणीमुखि लच्छि कर मंडिया, कित्ति पाथोनिधि पार पेलंतिया ॥९२॥
कोकिलालाववालावलीलालियं, मंजरी अंगणाद्गसवासालियं।
भृङ्ग झंकार संगीत गीतालयं, भूपती कोवि कंतावसंतालयं ॥ ९३ ॥
तिणि पंचक्कला पुणुवि चंदाणणो, णिधण वीसाम जहसेस चंदाणणो।
भूपती कित्ति ससिबिंब धवलं गया, अंबुधर अंबुणिधि अवधिपारंगया ॥९४॥
कणकमणिजटित आभरणभरहुल्लियं, मुत्तिमकरंदकरचरणदलतुल्लियं।
गंडयुग अछ जोणीज फल लंबिया, भूप देवद्रुमं वेलि अवलंबिया ॥९५ ॥
जो चारितक्कार, जो तिणि वीसाम०, सारंग छंदु सिरीमाल आराम०।
अंभोज राजी सुधाधाम संकास, जाणिज्ज भूपत्ति कित्ती वधूहास ॥९६॥
भूमंडला खंड छाए धरा दान, आखंडला डंवरोद्दंड समाण।
कदिंविणी णाद्द संवाद्द कोदंक, भूपति भारू उमानाथ उच्चंड ॥ ९७ ॥
सारंग सृंगार रसवीर अभिराम, पंचक्कलाचारिपय तिणि वीसाम।
सिरीमाल भूपाल पढि देवकुलनंदु, दारिद्द धूमध्वजं कीत्ति नवचंदु ॥९८॥
व्योमापगा कुसुमसम सुजसु आचूल, करकणक मत्थै ससीभिगु अनुकूल।
वृष वाहणं भूति अंगैप्रिया साथ, भारू वर आपदाता उमानाथ ॥९९ ॥
पढमपठितियपगणनिहणठवइ धणुहरो, धवलइय भणइ फणिपयहचउगइवरो।
णिसुणि हयगजवकसअवणिपतिदिनयरो, कनककरकिरणजनमनतिमिरघणहरो
मणि माणिक मागहु त्याग तरंगा, धनसंचन सिप वहु कविजन गंगा।
पिय लछि जना बहु कीरति चंगा; बहु नायक कैसा जुव्वणु वाला ॥१०१॥
पिहु खिलावहु मदन विसाला, मत सौकि सुनावहु मुख वाणि रसाला।

मुष वाणि रसाला मदन विसाला, जुव्वणवाला सिरीमाला।
पिय कीरति चंगा कविजन गंगा, त्याग तुरंगा गुण माला॥
मुख चवैणण हिया महक्कुणु कहिया, गुरु जन महिया णव लाला।
सव जगत पियारा मोर भतारा, भारहमल्ल महीपाला॥ ११०॥
लीलावइ छंदु णरिंदु णरिंद, विवज्जिय चउकल सत्त णिहणं सगणं।
णव णव दह चारि विरइ सरस्सरकर डंवर चारु चरण सवणं॥
सिरीमाल सुरिंद सुणंदण गुणि गण रोरु णिकंदण जण सरणं।
बव्वरं वंस अकवर साहि सनाषत भारहमल्ल भणं॥१११॥
एकनि कहु लच्छि वकसु एकनि कहु विघन हरणं, णिय पय मरणं।
एकनि कहु थप्पिनि वाजिणि।
हालुकिएहयकुंजरहेमघणं,एकनि कहसेवलिए करकरिवरसज्जभए अनुचरचरियं।
सिरीमाल सिरोमणि भारहमल्ल महीवलि विक्रमु अवतरियं॥ ११२॥
जण हरण पढम पढि दियवर णव गण णिहण सगण भणि सुकइवरे।
सुर भनय सुजसु रसु सुह मुह ब्रुहयण दहवंसु वसुण विरह करे॥
वर विरद अवनिपति सरदससि वदन णवि रदि छवि कवि तिमिर हरे।
गिरि जठर कठिन हठ दलन नव कुलिश, असरण जन धन सरण धरे॥११३॥
कुलकमल विमल रवि मल रवि पिशुन कठिन पवि।
विशद सुमति कवि गुण निलयं॥
जसकुसुम असम रस रसिक वसिक वस;
किय अकवर वर धर तिलयं॥११४॥
नव जुवति कुमुद वन सरद ससि वदन, मदन सदन तन करहु कणयं।
पर पुहमि प्रगट वल दलवल हय गय धुरपुर सुर तरु सुर भनयं॥११५॥
चउपाई मत्ता चउकल भत्ता पुणु पायंते हारं।
इथ छंदु गरिट्ठं दह अट्ठट्ठं पुणु चउ विरई सारं॥
सिरिमाल सुहिल्ल भारहमल्लं, पाढिज्जंतो राया।
णिय वंसिं भूपं काम सुरूपं, कित्ति णिमित्तं दाया॥ ११६॥
रांक्याणि पसिद्धो लच्छि समिद्धो भूपति भारहमल्लं।

धम्मह उक्किट्ठउ दाण गरिट्ठउ दिट्ठो राणा अरिउर सल्लं ॥
वर वंसह बब्बर साहि अकब्बर सब्बर किय सम्माणं ।
हिंदू तुरिका णात डरिगाणा ,राया माणहि आणं ॥११७॥
मरहट्टा छंदं भणइ फणिंदं, कल उणतीस करीज ।
गण आइहिं छक्कलु पंच चउक्कल, अंतगुरु लहु दीज ॥
विरई दह अट्ठं चरण गरिट्ठं पुणु एगारह तीज ;
उवमा भूपत्ती णिम्मल कित्ती भारहमल्ल भणीज ॥११८॥
पढमं भूपालं पुणु सिद्धिरिमालं, सिरिपुर पट्टणु वासु ।
पुणु आवूदेसि गुरुउवएसिं सावय धम्म णिवासु ॥
धण धम्महं णिलयं संवह तिलयं रंका राउ सुरिंदु ।
ता वंश परंपर धम्म धुरंधर, भारहमल्ल णरिंदु ॥११९॥
सरद ससि विसद जसविमल किय महियलो ।
जलज मुख सुख सदण मदन छवि रविदलो ॥
विविह विहि विहि कियउ सरस णव रसमउ ।
अवनिपति दिविजपति तनयसम रसमउ ॥१०१॥
पढमं विविलहु अंवजिय पहु अंचउ ।
कल दहगण सज्जिधरा, भण मयणहरा ।
दहवसु चउद्दशयं पुणुवि विश्नुमया ।
चउपय चउवीसामकरा गु १ अंतिधारा ॥ १०२ ॥
हयगय रह दानं, कित्ति णिदाणं ।
साहि अकब्बर थप्पिगणे, जयलछि वणे ॥ १०३ ॥
जगतीपति मंडण, रोरु विहंडण ।
भूपति भारहमल्ल भणे, कुल गगण नणे ॥ १०४ ॥
उदयगिरि हेवं, णरसुर सेवं, जणणीणामध्यमो, प्राचीवयमय माची ।
उदयं दिवि पूषं सहस मयूषं, मुदित विहंगम कवि जाची वसुधा राची ॥
कुलकमल विकासं प्रगटित आसं, पिशुन कुसेसय मंदछवी, अरि सिखरिपवी ॥
गोणर णिरवंधं णत नृपकंधं, भूपति भारहमल्ल रवामहि काम गवी ॥१०५॥

इय योमावत्ती मत्ता छंदं चउमत्ता गण अव्वायं ।
गण राउ विवज्जिय सज्जिय सव्वं चारिउ गणउ गणउक्किट्ठायं ॥
भणि भारहमल्ल णरिंदु पुरंदर सुंदर, सिंधुर पग्ग धरा ।
जा मुखु दिट्ठंतह लछि गरिट्ठह इहुहरिद्धी लछिवरा ॥१०६॥
अवनि उवण, पादप रे, वदन रवणा पंकजरे ।
चण गवण गजपति रे, नैन सुरंगा सारंग रे ॥
तनुरुह चंगा मोरा रे, बचन अभंगा कोकिल रे ।
तरुणि पियारा बालक रे, गिरि जठर विदारा कुलिसं रे ॥
अरिकुल संघारा रघुपति रे, हम नैनहु दिट्ठा चंद्रा रे ।
दान गरिट्ठा विक्रमु रे, मुख चवै सुमिट्ठा अमृत रे ॥१०७॥
नन पादप पंकज गजपति सारंग मोरा कोकिल वाल कुलं ।
नन कुलिशं रघुरति चंदा, नरपति अमृत किमुत सिरीमाल कुलं ॥
वकसै गजराजि गरीवणिवाज, अवाज सुराज विराजतु है ।
संघपत्तिसिरोमणि भारहमल्लु, विरद्दु भुवपति गजतु है ॥१०८॥
तिभंगी छंदं भणइ फणिंदं, चउकल कंदं अट्ठ गणं ।
गुरु अंति गरिट्ठ दह अट्ठट्ठं, तुरिए छहट्ठं णहि जगणं ॥
जिम जुवति चमक्कं तिणि जमक्कं, चरण अवक्कं वरउ वमं ।
भणि भारहमल्लं अरिउर सल्लं, णेहणवल्लं भूप समं ॥१०९॥
सुनहु कहणिया, कहहु वहणिया, मोर भतारा ।
किस रंगा, प्राण अधारा, हियरा रखुहु सब जगत पियारा ।
अंपिया देषहु गुरु जन महिया; देइ सैन बुलावहु महलु न कहिया ।
परिजन वरजहु मुख च वैन हिया ;
हरिगीय छंद फणिंद भामिय वीय, वइहि छक्कलो ।
गण पढमतीय तुरिय पंचम पंच मत्त सुयद्दलो ॥
दह छक्क वारस विरहठइ पय पयंह अंतहि गुरुकरे ।
सिर भारमल्ल कृपाल कुल सिरीमाल वंस समुद्धरे ॥ १२० ॥
कलिकाल कलपद्रुम विराजित द्विविजि तरु किमु अवतरयौ ।

णरनाथ किमु बलि भोज विक्कमु दुख दवन विधना करयौ ॥
असरण सरण किमु विजय पंजर रोरु भंजनु धण भन्यौ ।
सिरिमाल कुल प्रतिपाल भारहमल्ल वंसु समुद्धन्यौ ॥ १२१ ॥
रड्डु छंद मत्त अडसट्ठि, पुणु इक्क दोहा ठवऊ विसम पाय दह पंच जानहु १
बीय चरण बारसहिं तुरिय पाय दह इक्क माणहु, इम नवपय पयेउट्ट बहु ॥
दिण दिण दाहण णववल्ल, सिरीमाल वंसुद्धरण भूपति भारहमल्ल ॥१२२॥
जासु पढ़मइ वंस रजपूत, श्री रंक वसुधाधिपति जैनधर्मवर कमल दिनकर;
तासु वंस राक्याणि, सिरीमाल कुल धुर धुरंधर, तासु परंपर पुहमि जसु ।
कोडी सहस णवल्ल सवा लक्ख रवि उग्गवइ, भूपति भारहमल्ल ॥ १२३ ॥
कुंडलिया गुहयण मुणवु चउवालह सउमत्त,
दोहा लक्खणु पढम पढि अद्धं वत्थु पयत्त ।
अद्धं वत्थुपयत्त पुणुवि उल्लाल भणिज्जइ,
इग्गारह कल विसमचरण सोरट्ठ भणिज्जइ ।
पुणु तेरह समचरण जमक सम विविदल ललिया,
भूपति भारहमल्ल एहु लक्खणु कुंडलिया ॥ १२४ ॥
मानहु मौज समुद्द हद, भारहमल्ल णरिंदु ।
उमगि उमगि घणघोरि जिम वकसतु हय गयवृंद ॥
वकसतु हय गयवृंद, दाण दिज्जहिं दिण अविरल ।
काहू सपुलासी पि काहू मुकताहल,
नर मत करहुँ विषाद; भागु अपणो पहिचाणहु,
यह समुद्दुसिरि मालु रतन चौदह णिधि मानहु ॥ १२५ ॥
छप्पय छंदु फणिंदु पढम पयवत्तु भणिज्जइ ।
पुणु उल्लालइ जुतु देस भाषा बिरज्जइ ।
अह छब्भास णिवासु दोसु णवि कोइ गणिज्जइ ।
अखरडंबर सरस जमकु सुद्धउस लिहज्जइ ॥
बावण सउ विमत्तह मुणहु तरलतुरिय, जिम अगमगम ।
कुलतारण भारहमल्ल जसु पढत परम रस अमिय सम ॥ १२६ ॥

सवा लाक्ष उग्गवइ भानु तह ज्ञानु गणिज्जइ ।
टंका सहस पचास साहि भंडारु भरिज्जइ ॥
टंका सहस पचास रोज जे करहि मसक्कति ।
टंका सहस पचीस सुतनुसुत परचु दिन प्रति ॥
सिरिमाल वंस संघाधिपति, बहुत वड़े सुणियत श्रवण ।
कुलतारण भारहमल्ल सम, कौनु बढरो चढिहँ कवण ॥ १२७ ॥
वत्थू भणइ फणिंदु, विसमगण जगण विवज्जिय ।
चउकल पंच पयंत किरण दुइ पय पय सज्जिय ॥
गारह तेरह विरइ रइवि चउवीहक वजय पय ।
भूपति भारहमल्ल असम जस रस वसुधामय ॥ १२८ ॥
कोडिय पंचसुकातिलियौ बहु देसणिरग्गल ;
भरिसर डिंडवान अवनि टकसार समग्गल ।
भू भूधर दर उदर पनित अगनित धमं न संगति ;
देवतनय सिरिमाल सुजसु भारहमल्ल भूपति ॥ १२९ ॥
रोडउ छंद फणिंदु वुत्तु चउठीह सुमत्तै ।
पढम होइ छह मनत्तभारिच गणइ गुरु अंतै ॥
गारह तेरह विरह कित्ति चक्कवइ सरूपं ।
देवदत नंदन दयाल भारहमल भूपं ॥ १३० ॥
इंद्रराज इंद्रावतार जसुनंदनु दिट्ठं ।
अजयराज राजाधिराज सब कज्ज गरिट्ठं ॥
स्वामी दास णिवासु लछि बहु साहि समाणं ।
सोयं भारहमल्ल हेम हय कुंजर दानं ॥ १३१ ॥
उल्लाल छंदु अडवीह कल, तिथि तेरह रइ पय जुअल ।
चउकल णरिंद चउकल णगण, चउकल चउकल विप्पकल ॥ १३२ ॥
दिल्लीश हुमाऊँ साहि सुत, साहि अक्कवर नर हुकुम ।
धण माण दाण जस व्रड वपत, णहि लोकुर भारहमल्ल सम ॥ १३३ ॥
भारहमल्ल भूपती देवतरु अवतर्यौ अवनिमंडल महाछ वि विराजे ;

सेस कै सीस कीरति जटाजूट धरि दिग्विजसेयर शिषादान राजै ।
पाइए भागु भगवंत निज भाल तठ लिषि विशेष्यौ जहाँ जितुकु जानै ;
कोऊ नयनसुख च्छाह कोऊ पात कोऊ कुसुमरसडार कोऊ पक्क फल-
स्वाद साजै ॥ १३४ ॥

॥ झूलण छंदु ॥ सुजस रस वसाउलो, छंदु रासाउलो ।
पढम चरण मत्तया, गारहापरूया ॥
विद्दिय पय वविज्जए, मत्तदहा दिज्जइ ।
चरण चउ एम वहु, मत चउररिसियमइ ॥
पुण उल्ललइ सरिस भणि, चाल मउ विमत्तह सयल । सुज० ॥
कुलतारण भारहमल्ल तुव पुहमि सुजसु दिन दान बल ॥ १३५ ॥

पिसुण गण निकंदनो, देव कुल नंदणो, उदित तरणि भालयं ।
असम समर भुववलो, रोस दावानलो, सरट दससरंकवं ॥
धंम रह दन, जगति, पतित पावन विरद,
करुणामय पूरित भूरि धनु-भारहमल सिरिमाल हद ॥ १३६ ॥

रंगिक्काइयं सहु भणिज्जइ, चउवण मत्त गणिजै ;
पंद्रह दुइदह विरइ ठविज्जइ, भारहमल्ल भणिज्जइ । रंगि० ॥ १३७ ॥

नटभट गणक महाजन, हय गय कंचन दाता ।
भारहमल्ल महीपति की गति, सुरतरु थाप्यौ विधाता ॥ १३८ ॥

इसके आगे जो छंद दिये गये हैं, उनकी भाषा अपभ्रंश के अनुरूप है। अतः उन्हें अपभ्रंश पिंगल से सम्बन्धित समझना चाहिये। उदाहरणतः १३९ वां छंद देखिये—

विनादो कण सयारय सत्तासु दंडय वुत्त पयंम्हिकए ।
अहि छंद जहाँ गणविद्धि पयंम्हि पयामिय दोसण भूसणए ॥
कित्ती भूमंडल पिंड अखंडिय मंडिय डंवर अंवुधरावहिअं ।
सोए सो भारहमल्ल कृपाल कृपा सिरिमाल इला प्रतिपाल जियँ ॥

कुछ चुने हुए पद ।

हिन्दी-संसार में सूर और मीरा के पद-भजन प्रसिद्ध हैं । जैन हिन्दी साहित्य में भी वैसे पदों का अभाव नहीं है । उदाहरण-रूप कुछ पद यहां दिये जाते हैं:—

कविवर बनारसीदास जी:—

(१) राग धनाश्री ।

चेतन उलटी चाल चले । जड़ संगत तैं जड़ता व्यापी निज गुन सकल टले । चेतन० टेक ॥१॥ हितसों विरचि ठगनिसों राचे, मोह पिसाच जले । हँसि हँसि फंद सवारि आपहीं, मेलत आप गले । चेतन० ॥ २ ॥ आये निकसि निगोद सिंधुसे, फिर तिह पंथ टले । कैसें परगट होय आग जो दबी पहार तले । चेतन० ॥३॥ भूले भवभ्रम वीचि बनारसि तुम सुरज्ञान भले । धर शुभ ध्यान ज्ञाननौका चढ़ि बैठै ते निकले । चेतन० ॥ ४ ॥

(२) राग सारंग ।

दुविधा कब जैहै या मनकी । दु० । कब निजनाथ निरंजन सुमिरौं, तज सेवा जन जनकी । दुविधा० ॥ १ ॥ कब रुचिसौं पीवैं दृगचातक, बूंद अखयपद घनकी । कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि, करूँ न ममता तनकी । दुविधा० ॥ २ ॥ कब घट अंतर रहै निरन्तर, दिढ़ता सुगुरु वचनकी । कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धनकी, दुविधा० ॥ ३ ॥ कब घर छाँड होहुँ एकाकी, लिये लालसा बनकी । ऐसी दशा होय कब मेरी, हौं बलि बलि वा छनकी । दुविधा० ॥ ४ ॥

(३) राग गौरी ।

भौंदू भाई, समुझ शबद यह मेरा, जो तू देखै इन आँखिनसौं तामैं कछू न तेरा । भौंदू० ॥१॥ ए आँखे भ्रमहीसौं उपजी भ्रमही के रसपागी ।

जहँ जहँ भ्रम तहँ तहँ इनको श्रम, तू इनही को रागी। भौंदू भाई० ॥२॥ ए आँखैं दोउ रची चामकी, चामहि चाम बिलोवै। ताकी ओट मोह निद्रा जुत, सुपन रूप तू जोवै; भौंदू भाई० ॥ ३ ॥ इन आँखिन कौ कौन भरोसो, ए विनसैं छिन माहीं। है इनको पुद्गलसौं परचै, तू तो पुद्गल नाहीं, भौंदू भाई० ॥ ४ ॥ पराधीन बल इन आँखिन को, बिनु परकाश न सूझै। सो परकाश अग्नि रवि शशि को, तू अपनो कर बूझै; भौंदू भाई० ॥५॥ खुले पलक ए कछु इक देखहिं, मुंदे पलक नहिं सोऊ। कबहूँ जाहिं होहि फिर कबहूँ, भ्रामक आंखैं दोऊ; भौंदू भाई० ॥ ६ ॥ जंगमकाय पाय ए प्रगटैं, नहिं थावर के साथी। तू तो इन्हें मान अपने दृग, भयो भीम को हाथी; भौंदू भाई० ॥ ७ ॥ तेरे दृग मुद्रित घट अंतर, अन्धरूप तू डोलै। कैतो सहज खुलैं वे आँखैं, कै गुरुसंगति खोलैं; भौंदू भाई, समझ शबद यह मेरा ॥ ८ ॥

(४) राग सारंग।

हम बैठे अपनी मौन सौं।
दिन दशके महिमान जगतजन बोलि बिगारैं कौन सौं। हम बैठे० ॥ १ ॥
गये विलाय भरमके बादर, परमारथ-पथ-पौन सौं।
अब अंतरगति भई हमारी, परचे राधारौनै[1] सौं। हम बैठे० ॥ २ ॥
प्रगटी सुधापान की महिमा, मन नहिं लागै वौनै[2] सौं।
छिन न सुहायँ और रस फीके, रुचि साहिब के लौन सौं। हम बैठे० ॥ ३ ॥
रहे अघाय पाय सुख संपति, को निकसै निज भौन सौं।
सहजभाव सदगुरुकी संगति, सुरझै आवागौन सौं। हम बैठे० ॥ ४ ॥

कविवर भैया भगवतीदासजी—

(५) राग प्रभाती।

कहा तनिकसी आयु पै, मूरख तू नाचै।
सागर थिति धर खिर गये, तू कैसे बांचै। कहा० ॥ १ ॥

---

१. स्वानुभवरूपी राधारमन। २. वमन।

देख सुपनकी संपदा, तू मानत सांचै।
वे जु नर्ककी आपदा, जरहै को आंचै। कहा० ॥ २ ॥
धर्मकर्ममें को भलो, परखो मणि कांचै।
भैया आप निहारिये, पर सों मति मांचै। कहा० ॥ ३ ॥

(६) राग रामकली।

अरे तैं जु यह जन्म गमायो रे, अरे तैं० ॥ टेक ॥
पूरब पुण्य किये कहुँ अतिहो, तातैं नरभव पायो रे।
देव धरम गुरु ग्रंथ न परसै, भटकि भटकि भरमायो रे। अरे० ॥ १ ॥
फिर तोको मिलिशे यह दुर्लभ, दश दृष्टान्त बतायो रे।
जो चेतै तो चेत रे 'भैया', तोको कहि समुझायो रे। अरे० ॥ २ ॥

(७) राग केदारो।

छांड़ि दे अभिमान जिय रे, छांड़ि दे ॥ टेक ॥
काको तू अरु कौन तेरे, सबही हैं महिमान।
देख राजा रंक कोऊ, थिर नहीं यह थान। जिय रे० ॥ १ ॥
जगत देखत तोरि चलवो, तू भी खत आन।
घरी पलकी खबर नाहीं, कहा होय विहान। जिय रे० ॥ २ ॥
त्याग क्रोध रु लोभ माया, मोह मदिरापान।
राग दोषहिं टार अन्तर, दूर कर अज्ञान। जिय रे० ॥ ३ ॥
भयो सुरपुर देव कबहूँ, कबहुँ नरक निदान।
इम कर्मवश बहु नाच नाचे, भैया आप पिछान। जिय रे० ॥ ४ ॥

(८) राग देवगंधार।

अब मैं छांड्यो पर जंजाल, अब मैं० ॥ टेक ॥

लग्यो अनादि मोह भ्रम भारी, तज्यो ताहि तत्काल। अब मैं० ॥ १ ॥

आतमरस चाख्यो मैं अद्भुत, पायो परमदयाल। अब मैं०॥ २॥
सिद्ध समान शुद्ध गुण राजत, सोमरूप सुविशाल। अब मैं०॥ ३॥

कविवर भूधरदासजीः—

(९) राग सारंग।

जपि माला जिनवर नामकी ॥ टेक ॥
भजन सुधारससों नहिं धोई, सो रसना किस कामकी। जपि०॥ १॥
सुमरन सार और सब मिथ्या, पटतर धूँवा धामकी।
विषम कमान समान विषयसुख, काय्कोथली चामकी। जपि०॥ २॥
जैसे चित्रनागके मांथे, थिर मूरति चित्रामकी।
चित आरूढ़ करो प्रभु ऐसें, खोल गुँडी परिनामकी। जपि०॥ ३॥
कर्मवैरि अहिनिशि छल जोवैं, सुधि न परत पलजामकी।
भूधर कैसें बनत विसारैं, रटना पूरन रामकी। जपि०॥ ४॥

(१०) राग धनासरी।

शेष सुरेश नरेश रटैं तोहि, पार न कोई पावै जू ॥ टेक ॥
कापै नपत व्योम विलसत सौं, को तारे गिन लावै जू। शेष०॥ १॥
कौन सुजान मेघ बूँदन की, संख्या समुझि सुनावै जू। शेष०॥ २॥
भूधर सुजस गीत संपूरन, गनपति भी नहिं गावै जू। शेष०॥ ३॥

(११) राग श्रीगीरी।

काया गागरि जोजेरी, तुम देखो चतुर विचार हो ॥ टेक ॥
जैसे कुल्हिया काँचकी, जाके विनसत नाहीं बार हो। काया०॥ १॥
मांसमयी माटी लई अरु, सानी रुधिर लगाय हो।
कीन्हों करम कुम्हार ने, जासूँ काहू की न वसाय हो। काया०॥ २॥
और कथा याकी सुनौं, यामैं अध ऊरध दशछेह हो।
जीव सलिल तहाँ थंभ रह्यो भाई, अद्भुत अचरज येह हो। काया०॥३॥

---

१. जरजरित = टूटी फूटी।

यासौं ममत निवारकैं, नित रहिये प्रभु अनुकूल हो।
भूधर ऐसे ख्यालका भाई, पलक भरोसा भूल हो। काया० ॥ ४ ॥

(१२) राग सोरठ

भगवन्त भजन क्यों भूला रे ॥ टेक ॥
यह संसार रैन का सुपना, तन धन वारि[1]-बबूला रे ॥ भग० ॥१॥
इस जीवन का कौन भरोसा, पावक में तृण पूला[2] रे !
काल कुदार लिये सिर ठाड़ा, क्या समझै मन फूला रे ॥ भग० ॥२॥
स्वारथ साधै पाँच पाँव तू, परमारथ को लूला रे।
कहुँ कैसे सुख पैहै प्राणी, काम करै दुख मूला रे ॥ भग० ॥३॥
मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निज कर कंध वमूला रे।
भज श्री राजमतीवर[3] भूधर, दो दुरमति सिर धूला रे ॥ भग० ॥४॥

(१३) राग ख्याल

जग में जीवन थोरा, रे अज्ञानी जागि ॥ टेक ॥
जनम ताड़ तरु तैं पड़ै, फल संसारी जीव।
मौत मही में आय हैं, और न ठौर सदीव ॥ जग में० ॥ १ ॥
गिर-सिर दिवला[4] जोइया, चहुँ दिशि वाजै[5] पौन।
बलत अचंभा मानिया, बुझत अचंभा कौन ॥ जग में० ॥ २ ॥
जो छिन जाय सरे आयू में, निशि दिन ढूँकै[6] काल।
बांधि सकै तो है भला, पानी पहिली पाल ॥ जग में० ॥ ३ ॥
मनुष देह दुर्लभ्य है, मति चूकै यह दाव।
भूधर राजुलकंत[7] ही, शरण सितावी आव ॥ जग में० ॥ ४ ॥

---

१. जल। २. घास का पूला। ३. नेमिनाथजी। ४. दीपक ५. चलै।
६. निकट आवै। ७. श्रीनेमिनाथजी।

कविवर द्यानतरायजीः—

(१४) आरती

मंगल आरती आतम राम।
तन मंदिर मन उत्तम ठाम ॥ टेक ॥
सम रस जल चंदन आनंद।
तंदुल तत्त्व-सरूप अमंद ॥ मं० ॥ १ ॥
समैसार फूलन की माल।
अनुभौ सुख नेवज भरि थाल ॥ मं० ॥ २ ॥
दीपक ग्यान ध्यान की धूप।
निर्मल भाव महा फल रूप ॥ मं० ॥ ३ ॥
सुगुन भविक जन इक रंग लीन।
निहचै नौधा भगति प्रवीन ॥ मं० ॥ ४ ॥
धुनि उत्साह सु अनहद ग्यान।
परम समाधि निरत परधान। मं० ॥ ५ ॥
बाहज आतम भाव वहाव।
अंतर ह्वै परमातम ध्याव। मं० ॥ ६ ॥
साहब सेवक भेद मिटाय।
द्यानत एकमेक हो जाय ॥ मंगल० ॥ ७ ॥

कविवर वृन्दावनजीः—

(१५)

क्यों न दीनपर द्रवहु दयाल, दारुन विपति हरो करुनाकर ॥ क्यों० ॥
हो अपार उदार महिमा धर, मेरी बार किम भये हो कृपनतर।
वेद पुरान भनत गुन गनधर, जिन समान न आन भवभय हर ॥ क्यों० ॥
सहि न जात त्रयताप तरलगार, हे दयाल गुन माल भाल वर।
भविक वृंद तव शरन चरन तर, भो कृपाल प्रतिपाल क्षमाकर ॥ क्यों० ॥

(१६) मलार

निशदिन श्री जिन मोहि अधार ॥ टेक ॥
जिनके चरनकमल को सेवत, संकट कटत अपार ॥ निश० ॥ १ ॥
जिनको वचन सुधारस गर्भित, मेटत कुमति विकार ॥ निश० ॥ २ ॥
भव आताप बुझावन को है, महामेघ जलधार ॥ निश० ॥ ३ ॥
जिनको भगत सहित नित सुरपत, पूजत अष्ट प्रकार ॥ निश० ॥ ४ ॥
जिनको विरद वेदविद बरनत, दारुण दुख हरतार ॥ निश० ॥ ५ ॥
भविक वृंद की विथा निवारो, अपनी ओर निहार ॥ निश० ॥ ६ ॥

परिवर्धन

[यथास्थान इन टिप्पणों का विवरण मूल पुस्तक मे जुटाकर पढ़ना उचित है ।]

कवि धनपाल नामक (पृ० १०५) विद्वान् 'भविष्यदत्तचरित्र' के कर्त्ता से भिन्न भी हुये हैं। उनका पता पं० परमानन्द जी को आमेर का 'भ० महेन्द्रकीर्ति के भंडार' को देखते हुये चला, जिसका उल्लेख उन्होंने 'अनेकान्त' (वर्ष ७ किरण ७-८ पृष्ठ ८३-८४) में किया है । इन कवि धनपाल का रचा हुआ 'बाहुबलचरित' नामक ग्रन्थ उक्त भंडार में है। वह अपभ्रंश प्राकृत भाषा की रचना है। उसके पत्रों की संख्या २७० है। उसमें भ० आदिनाथ के सुपुत्र श्री बाहुबली स्वामी का चित्रण किया गया है। उसकी भाषा के विषय में पं० परमानन्द जी लिखते हैं कि उसकी भाषा दुरूह मालूम नहीं होती। वह हिन्दी भाषा के बहुत कुछ विकसित रूप को लिये हुये है। उसमें देशी भाषा के शब्दों की बहुलता दृष्टिगोचर होती है, जिससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि विक्रम की १५ वीं शताब्दि में हिन्दी भाषा बहुत कुछ विकाश पा गयी थी। रचना सरस और गंभीर है और वह पढ़ने में रुचिकर प्रतीत होती है। कवि ने अपना परिचय देते हुये लिखा है—

"गुज्जरदेस मज्झि पवट्टणु, वसइ विउल पल्हणपुर पट्टणु।
वीसल एउ राउ पय पालउ, कुबलयमंडणु सयलुबमालउ।
तहिं पुरवाड़ वंस जायामल, अगणिय पुव्वपुरिस णिम्मलकुल।
पुण हुउ रायसेट्ठि जिणभत्तउ, भोवइ णामें दयगुण जुत्तउ।
सुहड़पउ तहो णंदणु जायउ, गुरुसज्जणहिं भुअणिविक्वायउ।"

अर्थात्—"गुजरात देश के मध्य में 'पल्हणपुर' नामक एक विशाल नगर था। वहाँ राजा वीसलदेव राज्य करते थे, जो पृथ्वी के मंडन और सकल उपमाओं से युक्त थे। उसी नगर में निर्दोष पुरवाड़ वंश में जिसमें अगणित पूर्वपुरुष हो चुके हैं 'भोवई' नाम के एक राजश्रेष्ठि थे जो जिनभक्त और दयागुण से युक्त थे।" अंत्यप्रशस्ति में कवि ने आगे बताया है—

"गुज्जर पुरवाड़वंसतिलउ सिरि सुहड़सेट्ठि गुणगणणिलउ।
तहो मणहर छायागेहणिय सुहड़ादेवी णामें भणिय।
तहो उवरि जाउ बहु विणयजुओ धणवालु वि सुउणामेण हुओ।
तहो विण्णि तणुब्भव विउलगुण संतोसु तह य हरिराउ पुण।

अर्थात्—"उनके (भोवई के) उस पुरवाड़ वंश में तिलकरूप श्री सुहड़श्रेष्ठि हुये, जिनकी गृहिणी का नाम सुहड़ा देवी था। वही धनपाल कवि के माता पिता थे। धनपाल का जन्म उनके उदर से हुआ था। वह विनययुक्त थे। उनके दो भाई संतोष और हरराज भी विपुल गुणों के धारक थे। कवि के गुरु गणि प्रभाचंद्र थे, जिन्होंने मुहम्मदशाह तुग़लक के मन को रंजित किया था और विद्याद्वारा वादियों का मन भग्न किया था। (महमंदसाहि मणु रंजिउ, विज्जहिं वाइय मणु भजियउ।) कवि धनपाल ने गुरु की आज्ञा से सूरीपुर और चंदवाड़ के तीर्थों की बन्दना की थी। अपने 'बाहुबलिचरित्र' को कवि ने संवत् १४५४ में रचकर समाप्त किया था। इस ग्रन्थ को उन्होंने चंद्रवाड़ नगर के प्रसिद्ध राजश्रेष्ठि और राजमंत्री साहू वालाधर की प्रेरणा से रचा था, जो जैसवाल वंश के भूषण थे।

कवि ठकरसी (पृ० ६८) कृत 'कृपणचरित्र' के अतिरिक्त उनकी दूसरी रचना 'पंचेन्द्रियबोल' भी है, जिसकी एक प्रति नयामंदिर दिल्ली के शास्त्रभंडार में है। इसे कवि ने सं० १५८५ में रचा था। श्री पन्नालाल जी ने इसकी प्रतिलिपि करके भेजने की कृपा की है। कवि ठकरसी गेल्ह अथवा घेल्ह के सुपुत्र थे, गुणधाम थे और विवेकी विद्वान् थे। उनकी यह दूसरी रचना यद्यपि छोटी है, परंतु सुन्दर, शिक्षाप्रद और प्रसादगुणसम्पन्न है। प्रत्येक इंन्द्रिय की वासना को उसमें सुन्दर रीति से निस्सार और भयावह चित्रित किया गया है। केवल स्पर्शेन्द्रिय की विषमता का चित्रण देखिये—

"वन तरुवर फल सउं फिरि, पय पीवत हु स्वच्छन्द।
परसण इन्द्री प्रेरियो, बहु दुख सहै गयन्द॥
बहु दुख सहै गयन्दो, तसु होइ गई मति मंदो।
कागद कै कुंजर काजै, पडि खड़ै सक्यो न भाजै॥
तिहिं सही घणीं तिस भूखो, कवि कौन कहे तसु दूखो।"

निःसन्देह भूख के दुख को कौन कहे? आज भूखे भारत में वैसे अनेक भुक्तभोगी हैं! भूख लगे तो सत्त्व टल जाय! बेचारा हाथी कौन बिसात? किन्तु स्पर्श इन्द्रिय की वासना ने उसे यह दुख भुला दिया। वह वासना में फँसा और गुलाम बना, उसके पैरों में सांकल पड़ी और अंकुश के घाव सहे उसने—

"बांध्यौ पाग संकुल घाले, सो कियो मसकै चाले।
परसण प्रेरहं दुख पायो, तिनि अंकुश घावा धायो॥"

हाथी पशु है-मानव उससे श्रेष्ठ प्राणी है। उनमें भी महापुरुष और भी श्रेष्ठ हैं। शङ्कर, रावण और कीचक जगप्रसिद्ध हैं।

किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय की वासना ने इन्हें खूब छकाया। पाठक पढ़िये यह ठकरसी जी की काव्यवाणी में—

"परसण रस कीचक पूरयौ, गहि भीम शिलातल चूरयौ।
परसण रस रावण नामइ, वारयौ लंकेसुर रामइ।
परसण रस शंकर राच्यौ, तिय आगे नट ज्यों नाच्यो।"

शङ्कर से बली जब स्पर्शेन्द्रिय की बहाव में बह गये, तब बेचारे साधारण मानव की क्या बिसात है? कवि इसी लिये मुमुक्षु को सावधान करते हैं—

"परसण रस जे नर पूता, ते नर सुर धणं विगूता!"

अतः इन्द्रियवासना में फँसकर जीवन नष्ट न करना उपादेय है।

कवि भगवतीदास जी अग्रवाल (पृ० १०१-१०४) के विषय में श्री पं० परमानन्द जी शास्त्री ने 'अनेकान्त' (वर्ष ७ किरण ५–६ पृष्ठ ५४-५५) में विशेष प्रकाश डाला है। पं० जी को आपके रचे हुये (१) सीतासतु, (२) अनेकार्थनाममाला, व (३) मृगांकलेखाचरित्र मिले हैं। उनसे पं० जी को विदित हुआ है कि वह जिला अम्बाला के बूढ़िया नामक ग्राम के निवासी थे। 'सीतासतु' की प्रशस्ति में उन्होंने यही लिखा है—

'नगर बूढिए बसै भगोती, जनमभूमि है आसि भगोती।
अग्रवाल कुल बंसलगोती, पंडितपद जन निरख भगोती।'

पं० भगवतीदास जी देहली के भट्टारक गुणचन्द्र के प्रशिष्य तथा भ० सकलचंद्र के शिष्य भ० महेन्द्रसेन के शिष्य थे। वह बूढ़िया से आकर पहले योगिनीपुर (देहली) में रहे थे। मालूम होता है कि वह देहली से जाकर कुछ दिन हिसार में भी रहे थे। हिसार से वह सहिजादपुर, संकिसा और कपिस्थल में

कुछ समय के लिये जाकर रहे थे या उन स्थानों से होकर वह दिल्ली की ओर गये थे। संभव है कि वह उदासीन श्रावक हों और यत्र तत्र विहार करके उन्होंने जीवन बिताया हो। उनकी रचनाओं में 'सीतासतु' विस्तृत कृति है, जिसे उन्होंने सं० १६८४ में लिखा था। मैनपुरी के गुटका में जो रचनायें आपकी दी हुई हैं, वे इन ग्रन्थों से पहले की रची हुई सीतासतु' में बारह मासा के मंदोदरी-सीता प्रश्नोत्तर के रूप में रावण और मंदोदरी की चित्तवृत्ति का परिचय देते हुये सीता के दृढ़तम सतीत्व का अच्छा चित्रण किया गया है। पं० परमानंद जी लिखते हैं कि 'रचना सरल और हृदयग्राही है तथा पढ़ने में रुचिकर मालूम होती है।' दूसरी रचना 'अनेकार्थनाममाला' एक पद्यात्मक कोष है, जिसमें एक शब्द के अनेक अर्थों को दोहा छंद में संग्रह किया गया है। तीसरी रचना 'मृगांकलेखा-चरित्र' में चंद्रलेखा और सागरचन्द्र के चरित्र का वर्णन करते हुए चंद्रलेखा के शील-व्रत का महत्त्व स्थापित किया है। उन्होंने इस ग्रंथ को हिसार नगर के भ० वर्द्धमान के मंदिर में विक्र ० १७०० में पूर्ण किया था।

कविवर बनारसीदास जी (पृ० ११०–१२४) की एक अन्य रचना 'ज्ञानसमुद्र' नामक बतायी जाती है। इसकी एक जीर्ण प्रति जो लगभग ३०० वर्ष की पुरानी होगी कुरीचित्तरपुर (ज़िला आगरा) के शास्त्रभंडार में पं० भैयालाल जी शास्त्री ने देखी है। उस प्रति के विषय में प्रयत्न करने पर भी कुछ विशेष ज्ञात नहीं हुआ। अतः यह नहीं कह सकते कि वह रचना कैसी है और किन कवि बनारसीदास जी की है।

—कामताप्रसाद जैन

शब्दानुक्रमणिका

(INDEX)

अ

आ

ख

ग

घ

च

छ

ज

प

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	६	पिलग्रिक्स	पिलग्रिम्स
७	११	मत्य	सत्य
१०	१७	उदाहरणणार्थ	उदाहरणार्थ
४५	१८	प्राणों का	पत्तों का
५१	२१	ब	वहू
७२	१	इस	इसमें
७३	५	मिरनंदण	गिरनंदण
८३	२३	नियमचंद	विनयचंद्र
९१	३	पुत्र पति	छत्रपति
९१	२०	कृष्णचरित्र	कृपण चरित्र
९३	६	थेरी	छेरी
९५	८	ध्वानु	ध्यानु
१०६	२०	अन्धे	अच्छे
११९	१२	तूँ हित	तूँहि तजे
१३१	१३	पचान्ति	पंचा स्त
१३२	३	थात्रा	यात्रा
१३९	४	राजचन्द्र	रायमल्ल
१४३	८	वासनापूर्वक	वासनावर्द्धक
१४४	१८	जीवनयुग	नवीनयुग
१४८	५	ताहिं	नाहिं
१५०	३	मत	मन
१५१	१७	भाम	[illegible]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५४	१	धानपुर	धामपुर
१५५	११	देम	हम
१५६	११	म हीने	महीने
१५९	८	सूनि	सूँ निकरिके
१६४	१०	सिंह के	के
१७२	१८	सलेखया	सलेखमा
१७४	८	दयामा	दमामा
१७४	२१	आन न	आनन
१७७	११	गुसईं या	गुसाईं या
१८४	१९	न्दावन	वृन्दावन
१८६	२४	८२७	१८२७
१९१	२	उगके	उनके
१९३	१७	शिक्षाय भरा	शिक्षायें भरी
१९३	२०	डर	उर
१६४	७	मित	नित
२००	१४	अघ	अघ-
२०१	२०	झुनकतुलाल	झुणक-सु-लाल
२०६	९	ये	थे
२४९	२	पंचेन्द्रियबोल	पंचेन्द्रियबेलि

"णाणं पयासयं सोहओ तओ संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हं पि समाओगे मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥"

ज्ञान प्रकाशक है, तप संशोधक है, संयम रक्षक है। तीनों के मिलने पर मुक्ति है।

× × ×

"राग उदय जग अन्ध भयौ,
सहजै सब लोगन लाज गँवाई।
सीख बिना नर सीखत है,
विषयादिक सेवन की चतुराई॥
तापर और रचें रस काव्य,
कहा कहिए तिनकी निठुराई।
अंध असूझनि की अँखियान में,
झोंकत है रज रामदुहाई॥"

—भूधर दास
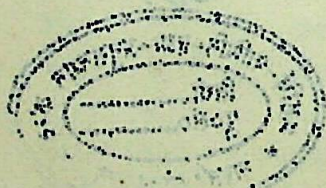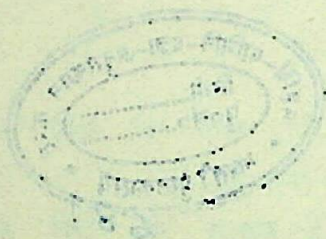
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

के

हिन्दी प्रकाशन

१ मुक्तिदूत (एक पौराणिक रोमांस) ४॥)

२ दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ
(प्राचीन आगम ग्रंथों से) ३)

३ पथचिह्न (स्मृति रेखाएँ और निबन्ध) २)

४ आधुनिक जैन कवि ३॥)

५ हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त
इतिहास २॥=)

६ जैनशासन ४।-)

७ कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न
(पंचास्तिकाय प्रवचनसार और समय-
सार का विषय परिचय)

८ पाश्चात्य तर्क-शास्त्र—२ भाग

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्रीका अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोकहित-कारी मौलिक साहित्य का निर्माण

संस्थापक
सेठ शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

केवल कवर इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद में छपा